सूर-सुषमा

अर्थात्

भक्त-शिरोमणि सूरदासजी के १५१ चुने हुए पदों का संग्रह

संपादक

नंददुलारे वाजपेयी, एम० ए०
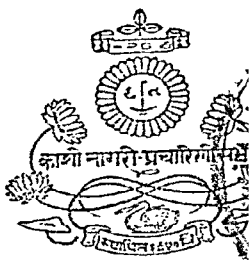
प्रकाशक

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा,

काशी ।

दूसरा संस्करण] सं० १९९४ [मूल्य १)

भूमिका

यह संग्रह विद्यार्थियों के पठन-पाठन के लिये प्रस्तुत किया गया है। राय कृष्णदासजी ने सूर के कई सौ उत्तमोत्तम पदों का संग्रह किया है; उनमें से २०० चुने हुए पद उन्होंने अलग कर दिए। इन्हीं में से ये १५१ पद चुन कर इस संग्रह में सम्मिलित किए गए हैं। इन पदों का संपादन रत्नाकरजी द्वारा संपादित सूरसागर के आधार पर किया गया है। जिन पदों का संपादन उन्होंने नहीं किया था उनका संपादन उन्हीं की संगृहीत सामग्री के आधार पर किया गया है। पदों का क्रम मूल प्रतियों के आधार पर रखा गया है, यद्यपि इसमें कहीं कहीं कथा का व्यतिक्रम हो जाता है। ऐसे स्थलों पर टिप्पणी में संकेत कर दिया गया है।

आशा है, यह संग्रह विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगा और इन पदों का अध्ययन कर उनमें मूल सूरसागर के अध्ययन की प्रवृत्ति तथा सूर की मधुर कविता के आस्वादन की अभिरुचि उत्पन्न होगी।

संपादक

प्रस्तावना

महाकवि सूरदास भारत के परम प्रसिद्ध भक्त, संत और महात्मा हो गए हैं। यहाँ उनके कवित्व की ही थोड़ी सी अभ्यर्थना करने की हमारी प्रस्तावना है। संसार के भक्तों, संतों और महात्माओं के जीवन से मनुष्यजाति के विचारप्रवाह पर क्या प्रभाव पड़ा; उसके भाव कैसे भव्य, आचरण कितने उदात्त हुए; यह सब तो अकथ कथा है। किंतु उनकी दिव्य वाणी से भाषा किस रूप में अलंकृत हुई; काव्य-साहित्य का किस प्रकार विकास हुआ; इसकी थोड़ी सी थाह लग जाय तो भी कम नहीं है। पश्चिम के पंडितों ने काव्य की परिधि बनाते हुए, न जाने क्यों, बाइबल आदि आध्यात्मिक पुस्तकों को उससे बहिष्कृत कर दिया है और ब्लेक, ब्राउनिंग आदि दार्शनिक कवियों को उनका उचित आसन देने में संकोच कर रहे हैं। स्वयं ही संसारी भावनाओं में अधिक लिप्त होने के कारण उन्होंने काव्य का उत्कर्ष लोक-व्यापार में ही अधिक मान लिया है; नहीं तो वे साहित्य और कलाओं के उस मौलिक तथ्य को स्पष्ट क्यों नहीं करते जिसके आधार पर उनका यह काव्य-वर्गीकरण टिक सके! उन पंडितों ने उच्च दर्शन को मानवीय मनोविज्ञान की अपनी बनाई हुई व्याख्याओं की तुलना में तुच्छ स्थान प्रदान किया है और अपनी इस आविष्कृत साइकॉलाजी के सामने ज्ञान-विज्ञान की हँसी उड़ाई है। इसी कारण वे भारतीय और संपूर्ण प्राच्य साहित्य को अधिकांश में अत्युक्तिपूर्ण और असत्य मानते हैं और उस पर अलंकृत भाषा (Extravagance of language), ओछे भाव (Superficiality of sentiment) और अनहोनी कल्पनाओं (Hyperbole) का लांछन लगाते हैं। अब समय आ गया है कि उनसे इस विषय में जवाब तलब किया जाय क्योंकि साहित्य उन पंडितों के ही विशेषाधिकार की वस्तु नहीं

है। वह तो प्रकाश की भाँति सर्वत्रगामी, सर्वजन-संवेद्य और अग्नि की भाँति सर्वभुक् है। उसे अपनी अपनी व्याख्याओं के कठघरों में बंद रखने की हास्यास्पद चेष्टा अब बंद हो जानी चाहिए।

हमारे देश में भी काव्य की कोटियाँ बनाई गई हैं पर उनका उद्देश्य बंधन नहीं है। अवसर के अनुसार वे अधिक से अधिक विस्तार कर सकती हैं, जिसमें लौकिक और अलौकिक भावनाजगत् अभेदभाव से सन्निहित हो सकते हैं। हमारे यहाँ के प्रायः समस्त श्रेष्ठ कवियों ने अपने देश का मूल दर्शन दृढ़ भाव से ग्रहण कर रखा है, जिससे हमारी कविता का संपर्क अर्थ, धर्म और काम से ही नहीं, मोक्ष से भी अटूट बना रहा है। आदिकाव्य रामायण क्रौंच-क्रौंची की मिथुन-बाधा से आरंभ होकर राम (पुरुष) के स्वर्गारोहण और सीता (प्रकृति) के पाताल-प्रवेश में समाप्त होता है। यह इस बात का साक्षी है कि हमारे आदिकवि ने तुच्छातितुच्छ लोक-घटना से लेकर उच्चतम दार्शनिक तत्त्व का समन्वय एक ही रचना के अंतर्गत किया है। यही हमारे यहाँ की सनातन काव्य-परिपाटी रही है। महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में श्रृंगार की सीमा स्पर्श कर ली थी किंतु कुमारसंभव के शिव-पार्वती-प्रसंग में श्रेष्ठतम दार्शनिक भावना स्वच्छतम रूप में प्रकट हो उठी है। अभिज्ञान-शाकुंतल को तो सात समुद्र पार का द्रष्टा कवि गेटे अपनी श्रद्धांजलि भेंट करता है—"इसमें पृथिवी (प्रकृति) स्वर्ग (पुरुष) से मिलने आ गई है और दोनों परस्पर एक हो गए हैं।" परवर्ती काल के अलंकार और सतशतीकारों ने अवश्य लौकिक भावों को ही अपनी आत्मा का सूत्र पकड़ लेने दिया था, परंतु ऐसा समय कभी नहीं आया जब कोई भी साहित्य का पंडित, निर्भय या सभय भाव से भी यह कह सकता था कि धर्म और दर्शन के तत्त्वों से रिक्त काव्य ही एकमात्र श्रेष्ठ काव्य है। इस काल में भी लौकिक श्रृंगार और देव-श्रृंगार की दो कोटियाँ बनी ही रहीं; कभी भी काव्य का आनंद लौकिक आनंद नहीं माना गया। निम्नातिनिम्न संसारी वस्तु से भी उच्चातिउच्च अध्यात्मतत्त्व का सं-

करा देना, यही अपने साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता देख पड़ती है।

काव्य का क्षेत्र भावों की क्रीड़ाभूमि है, कविता के इस मूल स्वरूप को हम सभी स्वीकार करते हैं। यह तो काव्य और कलाओं की पहली कोटि है जिसके अभाव में उनका अस्तित्व ही असंभव है; किंतु इसके अतिरिक्त किसी दूसरे कोटि-क्रम की आवश्यकता नहीं है। भावों का उद्रेक कविता के द्वारा होना चाहिए यह अनिवार्य है, किन्तु और कुछ अनिवार्य नहीं। भावों की व्यंजना, ध्वनन, स्वयं-प्रकाश यही कविता और कला मात्र का व्यक्तित्व है जो सृष्टि के अन्य वस्तु व्यापारों के व्यक्तित्व से उसे पृथक् करके दिखा सकता है, परंतु हम यह कुछ भी नहीं कह सकते कि हमारे भाव ये ही हैं, इतने ही हैं अथवा ऐसे ही होने चाहिएँ। किसी मनोविज्ञान के कितने भी बड़े विद्वान को यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि ये स्वाभाविक भाव हैं और ये अस्वाभाविक हैं; ये ओछे हैं; ये असंभव हैं। प्रत्येक मनुष्य की धारणाएँ उसकी प्रकृति के अनुसार बनती हैं; प्रत्येक देश के भाव उसके विचार और उसके दर्शन की कोई इयत्ता नहीं है। आज अँगरेज जाति अथवा पश्चिमी विचार-प्रणाली में जो भावनाएँ अत्युक्तिपूर्ण समझी जाती हैं, कल वे अपना रूप बदल सकती हैं। एक के लिये जो अत्युक्तिपूर्ण है, दूसरे के लिये उससे बढ़कर सत्य, सुलभ और स्वाभाविक कोई दूसरी वस्तु नहीं। जिस देश की जैसी अभिरुचि होगी, उस देश की कविता भी वैसा ही वेष धारण करेगी। यदि यूरोप में स्वाभाविकता के नाम पर यथार्थ प्रकृति के चित्रण, जनसाधारण के लोक-व्यवहार के दर्शन और व्यक्तिगत विशेषताओं के निरूपण को ही उत्तम कला समझते हैं तो यह उसकी वर्तमान मनोवृत्ति का ही परिणाम है। यह परिणाम निश्चय ही अचिर और अनित्य है क्योंकि इसके आधार में कोई तत्त्व नहीं।

काव्य और कलाओं में प्रदर्शित रूपों और तज्जनित भावों के विषय में किसी प्रकार के विशेष्य-विशेषण की कहीं भी जगह नहीं है। सृष्टि के

अपार भाव-भेद और रस-भेद को हमें समझ लेना चाहिए। यदि हम किसी देश के किसी समय के किसी कवि की काव्य-कला को असंभव या अशुद्ध कहते हैं तो यह हमारा ही अज्ञान है क्योंकि हमने उस धारणा-भूमि में पहुँचने की चेष्टा नहीं की, न उस मनोवृत्ति का अध्ययन किया जिसके द्वारा उस कवि ने उस 'असंभव' वस्तु को प्रत्यक्ष संभव करके हमें दिखा दिया है; और अशुद्ध तो वह स्वप्न में भी नहीं क्योंकि कवि के शुद्ध अंतःकरण से उसकी उत्पत्ति हुई है। हमें प्रत्येक देश के विचारों को अपने देश के विचारों की कसौटी पर कसकर अपना 'फतवा' निकालने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि विचारों का राज्य एक दूसरे से निरपेक्ष और स्वाधीन है। यदि हममें इतनी व्यापक सहानुभूति है कि हम किसी कवि की कविता को उसके देश-काल और व्यक्तित्व के विकास के अनुसार देख सकते हैं; यदि हमने उस विचार-भूमि की झाँकी पाई है जिसे देखकर उस कवि की आत्मा में कविता उद्वेलित हो उठी थी; तो साहित्यसमीक्षा की इसी सर्वोत्तम और एकमात्र सत्य प्रणाली का उपयोग हमें करना चाहिए। हमारे लिये सबसे सुंदर उपाय यही है कि हम कवि की आत्मा में अपनी आत्मा को मिलाकर—विकास की प्रत्येक दिशा में उसके साथ तन्मय होकर—उसका अध्ययन आरंभ करें; अन्यथा यदि पश्चिम से पूर्व को यह कहा जाता है कि तुम्हारी भाषा अलंकृत, तुम्हारे भाव अस्पृश्य, कल्पना अतिशयोक्तिपूर्ण हैं; तो पूर्व से पश्चिम को यह प्रतिध्वनि जायगी कि तुम्हारी भाषा रूखी, तुम्हारे भाव स्थूल हैं और कल्पना का तो तुममें नाम भी नहीं।

एक और बाँध जो, कविता-कला के चारों ओर बाँधा जाता है, जिससे अपने देश के दर्शन और सूर की वास्तविक भावना का परिचय प्राप्त करने में बाधा पड़ सकती है, रूप का बाँध है। कहते हैं, कलाएँ रूपवती हैं; वे रूप की ही अभिव्यक्ति कर सकती हैं अरूप की नहीं। इसमें संदेह नहीं कि कलाएँ रूपवती हैं परंतु यह तो केवल वाक्छल है कि वे रूप की ही अभिव्यक्ति कर सकती हैं अरूप की नहीं। इस

अनोखी बात को साहित्य-तत्त्व कह कर प्रचार करने से एक बड़ा विक्षेप यह पड़ेगा कि भारत के उच्चतम अद्वैत-दर्शन को काव्य में आकर एकांगी बन जाना होगा। जो ब्रह्म रूप और अरूप दोनों के ऊपर, अनिर्वचनीय है, उसका भी कविता की लाक्षणिक प्रणाली से, रूपकों द्वारा, निर्वचन करने की चेष्टा हमारे यहाँ बहुत समय से की जा रही है। कहना चाहिए कि हमारा प्राचीन पौराणिक साहित्य अधिकांश लाक्षणिक ही है। मूर्त्ति में यदि अमूर्त की व्यंजना न हो सकी तब तो हमारे धर्म की एक महत्त्व-पूर्ण धर्म-परंपरा ही नष्ट हो गई। भारत की भावनाधारा इतनी अधिक रहस्यमयी है कि कृष्ण के अवतार-रूप में न केवल सगुण भगवान् की वरन् सगुण-निर्गुण के ऊपर जो परात्पर परब्रह्म हैं, उनकी लीला हुई है। कृष्ण का अवतार भी क्या हमारे शब्दशास्त्र के अनुसार अवतार था? नहीं, वे तो अवतार लेने के सदृश प्रकट होते से देख पड़े थे। इतने ही से समझना चाहिए कि इस देश की कविता केवल रूप का प्रत्यक्षीकरण करके अपने दर्शन के अनुकूल नहीं बन सकती। अवश्य ही यदि कृष्ण-काव्य से कृष्ण के भक्तों की तृप्ति होती है—होती क्यों नहीं—तो तभी होती है जब उस काव्य में रूप की ही नहीं, रूप-अरूप दोनों की और दोनों के परे (कृष्ण) की भी व्यंजना होती है।

अब हम भारतीय विचारधारा के प्रवाह के साथ-साथ सूर के काव्य-प्रवाह की गति देख सकते हैं। वह काल भक्ति के प्लावन का था। भगवान् द्वैपायन व्यास को वेदांतसूत्रों और गीता का भी प्रवचन करके जब शांति न मिली, तब उन्होंने श्रीमद्भागवत की रचना करके परम शांति को करतलगत किया। यह भागवत भक्ति का अभूतपूर्व ग्रंथ है। इसमें पंडितों की परीक्षा होती है, इसकी भाषा को श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने 'समाधि-भाषा' कहा है। ये ही वल्लभाचार्य महाराज सूरदास के दीक्षा-गुरु थे और इन्होंने सूर को आज्ञा की थी कि ये भागवत की ही कथा को भाषा के पदों में गाकर सुनाएँ। सूर के पदों की भी भागवत की ही 'समाधि-भाषा' समझनी चाहिए। यों तो समाधि में भाषा कहाँ है और

भाषा में समाधि कहाँ, परंतु श्रीमद्भागवत तथा इन पारदर्शी भक्तों का ऐसा ही प्रताप था कि जो संभव नहीं था उसे भी संभव कर दिखाया। ज्ञान की चरम साधना समाधि है, किंतु वह समाधि मौन है। ज्ञान की इस मौन समाधि के ही समकक्ष (भक्तों के लिये तो उससे भी बढ़-कर) भक्ति की मुखर समाधि की कल्पना आचार्य वल्लभ ने की, जो परम आनंदमयी कल्पना है। ज्ञान के द्वारा आत्मा की मुक्ति होती है परंतु वह भक्ति धन्य है जो मुक्त आत्माओं को 'समाधि-वाणी' सुनने का अवसर देती है। मायावृत संसार के रूप-अरूप में व्याप्त और उसके परे कृष्ण-रूप का साक्षात्कार जीवन की चरम उपलब्धि है, किंतु उस कृष्ण-रूप का अवतार, उस अवतार का दर्शन, उसकी लीलाओं का श्रवण-कीर्त्तन ये और भी रहस्यमयी और मीठी कल्पनाएँ हैं।

श्रीमद्भागवत में कृष्ण की जो विविध लीलाएँ आई हैं उन सबके अनेकानेक आशय हो सकते हैं। साहित्य की लाक्षणिक और ध्वन्यात्मक पगडंडियों पर चलते हुए हम उन अनेक आशयों तक पहुँच सकते हैं और काव्य का रस लेते हुए अध्यात्म का भी आनंद उठा सकते हैं। 'हरि अनंत हरिकथा अनंता' का अर्थ हमें समझना चाहिए। वे हमारी मानवीय लीलाएँ नहीं हैं कि उसका प्रयोजन-निरूपण किया जा सके। तथापि भागवत के टीकाकार कई आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार टीकाएँ की हैं। 'टिप्पणी' में हमने भी कई प्रसंगों पर विचार किया है। उन लीलाओं का इतना अर्थ तो हमें समझ ही लेना चाहिए कि वे सब आध्यात्मिक हैं और हम मनुष्य उनका अनुकरण कदापि नहीं कर सकते। भागवत दशम स्कंध के वेणु-गीत का रहस्य उद्घाटन करते हुए आचार्य वल्लभ ने उसे भगवान् के नामात्मक स्वरूप का प्रतीक माना है। वेणु-गीत वास्तव में ब्रह्म का नाम-निरूपण ही है, अतः उसका आनंद सब संसारी सुखों के ऊपर है। इसी प्रकार रासलीला की व्याख्या में निर्देश किया गया है कि जिस प्रकार बालक अपनी परछाहीं से क्रीड़ा करता

है, वैसे ही कृष्ण गोपियों से क्रीड़ा करते हैं (वेदांत का प्रतिबिंबवाद)। प्रत्येक लीला का—संगीत (मुरली) और नृत्य (रास) जैसी कलाओं का भी—भागवत में अद्वैत अर्थ में ही ग्रहण किया गया है। यह उस काल की भक्ति की सर्वव्यापिनी महिमा थी कि लोक की संपूर्ण वस्तुएँ अलौकिक स्वरूप में ग्रहण की जा सकी थीं। ज्ञान होने पर संसार का मिथ्यात्व समझ में आ जाता है, भागवत की भक्ति होने पर संसार का अस्तित्व भी ब्रह्ममय बन जाता है। सूर जैसे महात्मा और महाकवि को यह भागवत भक्ति सहज-सुलभ थी।

सूर की यह परम निगूढ़ भक्ति की साधना जब कविता में अपनी सिद्धि पाती है—जब हिमालय के हिमखंड द्रवित होकर जलधारा बनते, जो जलधारा गंगा-यमुना आदि के रूप में देश का शुष्क हृदय सींचती, असंख्य कंठों की तृषा शांत करती है—तब उसका क्या स्वरूप होता है, यह देखना चाहिए। हम देखते हैं कि उनकी कविता गेय पदों के रूप में है, जैसे एक एक लीला के अनेक छोटे-बड़े चित्र खींच लिए गए हों। इन पदों में शब्द की साधना के साथ साथ स्वर की भी परम उत्कृष्ट साधना है। जैसे शुद्ध भावनामय, लयकारी ये पद हैं वैसा ही तन्मयकारी इनका संगीत है। कविता के रहस्य से अवगत विद्यार्थियों को यह विदित होगा कि गीत-काव्य में छोटे छोटे पदों द्वारा सुंदर मनोरम भाव-मूर्तियाँ अंकित की जाती हैं; इनमें से सब प्रकार की कर्कशता बहिष्कृत की जाती है; गेय पदों की भावना प्रायः कोमल होती है और एक एक पद में पूर्ण होकर समाप्त हो जाती है। सूर आदि भक्तों की वह भावना—जो आरंभ में भगवान् के गुणों का गान करती है, फिर अवतार रूप में उनकी लीलाओं का कीर्तन करती है, फिर वियुक्त होने पर उनके प्रति अश्रुवर्षा करती है—उत्तरोत्तर मृदुल, कोमल और करुण हो उठी है। गीत-काव्य की दृष्टि से ये पद उत्तम कोटि से कहीं नीचे नहीं उतरते।

परंतु सूर जैसे भक्ति-विह्वल कवि के लिये यह संभव नहीं था कि वे वस्तु (Objective) रूप में कृष्ण के बाल्यकाल से लेकर वियोग-

काल तक के चरित का चित्रण कर देते—अपने हृदय के उमड़ते हुए आनंद को दबा लेते। प्रायः प्रत्येक पद की अंतिम पंक्ति में उनकी प्रेमातुर भावना मुखर हो उठी है—इसका रहस्य वे ही समझेंगे जो भागवत की समाधि-भाषा का रहस्य समझते हैं। पश्चिमीय साहित्य-समीक्षक इन अंतिम पंक्तियों को असंगत और असंभव कह सकते हैं। उनका यह आरोप हो सकता है कि कृष्णचरित के भिन्न भिन्न वर्णनों का स्वाभाविक सौंदर्य्य बहुत अंशों में नष्ट हो जाता है। अभी कृष्ण उत्पन्न होकर माँ की गोद भी नहीं छोड़ पाए कि सूर के 'स्वामी' बन बैठे। अभी वे गोचारण करते हुए अपने सहचरों द्वारा भयभीत किए जाते हैं, अभी उन्हें 'जगत् के प्रभु' की पदवी मिल गई। यशोदा उन्हें उनकी शरारतों के लिये दंड क्या देती है, 'त्रिभुवननाथ को नाच नचाती' है! अतः उन आलोचकों के विचार में ये सब पद पाश्चात्य गीतों की भाँति कोमल और मधुर भावों से नहीं भरे; वे अद्भुत, अस्वाभाविक और असंभव हैं।

भारतीय रस-शास्त्र की प्रचलित पद्धति भी इस संबंध में अनेक प्रकार की द्विविधाएँ उत्पन्न करती है। रसशैली के अनुसार प्रत्येक महाकाव्य में एक प्रधान रस और उसके अंगीभूत अनेक रस होते हैं। सूरदास के पदों को एक महाकाव्य मानने में शास्त्र की क्या आज्ञा है? यद्यपि प्रबंध रूप में नहीं, तथापि मुक्तक रूप में 'सूरसागर' सर्वत्र एक उद्देश—एक महत् उद्देश—रखता है। वह उद्देश है कृष्ण का गुणगान। महाकवि सूर ने अपने आरंभिक विनय के पदों में यह प्रदर्शित किया है कि वे उन्हीं कृष्ण की लीला वर्णन करने को उद्यत हो रहे हैं जो चराचर-नायक, ईशों के ईश और स्वयं व्यापक विभु हैं। यह केवल ऐसा निर्देश नहीं है जैसा काव्यों के रचयिता अपने अपने नायकों के संबंध में कर देते हैं कि वे किसी देवता के अवतार, आसमुद्र पृथिवी के पालक, चक्रवर्त्ती सम्राट् हैं। सूर ने आत्मा के उत्कट विश्वास से कृष्ण की ईश्वर-रूप में अर्चना की थी, उनके आरंभ के पद इसके साक्षी हैं।

कविवर सूर की यह काव्य-चातुरी विशेष रूप से प्रशंसनीय है कि वे

ब्रज के चित्रपट पर कृष्ण का चित्र अंकित करने के पहले विनय के पदों में उसकी भूमिका उत्तम रीति से बाँध लेते हैं। सूर के कृष्ण को साहित्य-शास्त्र अपने धीरललित (अधिकांश में कृष्ण धीरललित माने गए हैं) या धीरोदात्त नायक की कोटि में रखने का साहस नहीं कर सकता। यद्यपि उक्त शास्त्र के अनुसार कृष्ण ही विविध लीलाओं के आलंबन ठहरते हैं और उद्दीपन की भी संपूर्ण सामग्री है, किंतु सूर के आरंभिक विनय के पदों से ही उनकी भावभूमि असाधारण रीति से ऊपर उठ जाती है और उनके गीतों की अंतिम पंक्तियों से तो जैसे संपूर्ण साहित्य-शास्त्र को मौन बन जाना पड़ता है।

यदि सूर का पद-संग्रह साहित्यशास्त्र के अनुसार एक महाकाव्य माना जाय तो इसका प्रधान रस क्या है? उत्तर यही है कि इसका प्रधान रस साहित्यशास्त्र की रसकोटि में नहीं आता—वह अलौकिक रस है। यद्यपि साहित्यशास्त्र सब रसों का आनंद 'अलौकिक' मानता है किंतु सूर के काव्य का आनंद इस 'अलौकिक' से भी अलौकिक है। यह आनंद और किसी कारण नहीं, कृष्ण के कारण अलौकिक है। तुलसी के राम, सूर के कृष्ण—भक्त कवियों के जो-जो नायक हुए हैं—सबने काव्यजगत् की प्रचलित विधियों का अतिक्रमण किया है। इन कवियों की यह अद्‌भुत कला है कि ये अपने स्वतंत्र अधिकार से ऐसे नायक का अवतरण करते हैं जो चराचर-नायक है। कृष्ण के चरित और राम के चरित में राम और कृष्ण संपूर्ण काव्य का—नायक, उपनायक, सब पात्रों, सब घटनाओं का—एक सूत्र से संचालन करते हैं। राम-चरितमानस में राम के अतिरिक्त जिस किसी ने जो कुछ किया है राम की ही प्रेरणा से। हनुमान् ने समुद्र लाँघकर लंका जला डाली—'उमा न कछु कपि कै अधिकाई, प्रभुप्रताप जो कालहिं खाई।' मंथरा ने राम-वनवास का प्रस्ताव किया क्योंकि गिरा (वाणी, जो राम की वशवर्तिनी है) उसकी मति फेर गई थी। रावण ने सीता का हरण किया, युद्ध में प्रवृत्त हुआ—यह भी विधिवशात् (विधि भी राम ही

हैं)। सुमित्रा लक्ष्मण को राम के साथ वन भेजती हुई कहती हैं, 'तुम्हरे भाग्य राम वन जाहीं, दूसर हेतु तात कछु नाहीं'। यहाँ लक्ष्मण का भाग्य भी राम के अतिरिक्त और कोई नहीं। 'पूजनीय, प्रिय परम जहाँ ते, मानिय सकल राम के नाते।' पूजनीय ही नहीं अपूजनीय भी, हेय भी; प्रिय ही नहीं, अप्रिय भी, निंद्य भी; राम के ही नाते माने जाते हैं। "उमा दारुयोषित की नाईं, सबहिं नचावत राम गुसाईं।" गोस्वामी तुलसीदास ने तो अपने रामचरितमानस में शिव-पार्वती, भरद्वाज-याज्ञवल्क्य और गरुड़-काकभुशुंडि की तीन-तीन कथाएँ बैठाल दी हैं, जिनका एकमात्र प्रयोजन रामचरितमानस को अविकल राममय बना देना है। उन लोगों ने उसे वैसा बना भी दिया है। महात्मा सूर भी उसी कृष्णमय आनंद में विभोर हो प्रत्येक गान की अंतिम पंक्तियों में अपनी आत्मा उन्हें समर्पण कर देते हैं। ठीक गोसाईंजी की तीनों कथाओं की सी शैली है। वह प्रबंध के भीतर है, यह मुक्तक में; बस यही अंतर है।

यद्यपि कृष्ण की अलौकिक लीलाओं के सामने प्रचलित साहित्य-शास्त्र मौन है तथापि सूर का काव्य उत्तम कविता के गुणों से विभूषित, साहित्य-कला का परिष्कार और पुरस्कार करनेवाला है। सूर की अनन्य तन्मयता स्वयं ही कविता की एक श्रेष्ठ विभूति है। उनकी मधुर भाव की उपासना उनके काव्य को यों ही कुसुम-कोमल बना देती है। परंतु सूर की पवित्र भावना से काव्य-कला जिस रूप में उज्ज्वल हो उठी है, वह भी हमारी आँखों के सामने है। प्रचलित साहित्यशास्त्र के पंडितों ने अपने पांडित्यवश जो सीमाएँ बना ली थीं, सूर की कविता ने उन्हें मिटा दिया और यह मिटाना ही साहित्य को नवीन जीवनदान देने में समर्थ हुआ। साहित्य-शास्त्रियों के दिए जीर्ण वस्त्रों का त्याग कर कविता नवीनवसना दृष्टि के सामने आई। एक सबसे बड़ा शुभकार्य्य जो सूर ने किया यही था कि उन्होंने हमारे साहित्य-शास्त्र की आँखें खोल दीं और सीमा के स्थान पर निस्सीम सौंदर्य की झलक दिखा दी।

परंतु इतना ही नहीं, कलाओं के क्षेत्र में सूर ने और भी उत्तमोत्तम प्रयोग किए हैं। काव्य और कलाओं का आनंद अलौकिक करके मान लिया गया था परंतु यह केवल मानी हुई बात ही थी। जब से देश के वास्तविक दृष्टिवाले कवियों का समय बीता तबसे काव्य की अलौकिकता उत्तरोत्तर क्षीण ही पड़ती गई। कवियों के मानस केवल लौकिक शृंगार से स्निग्ध होने के कारण काव्य के जो तैल-चित्र निर्मित हुए वे समाज की मलिन भावनाओं के संसर्ग से धूसरित होकर और भी विकृत हो गए। कवियों ने वह कला बिगार दी जो विविध रसों से एक सत्य अलौकिक रस निष्पन्न करती थी। उन दिनों के कवि-चित्रकारों ने अपनी चित्रभूमि (back-ground) को जिस रंग में रंगा (मान लीजिए शृंगार के रंग में) उस पर चित्र भी उसी रंग के बनाए। कला की सब बारीकियाँ भुला दी गईं। कहीं भी नवीन उन्मेष नहीं था। तब सूर ने अपनी तूलिका उठाई; उन्होंने विनय के पदों में-सूर-सागर की भक्तिमयी आधारभूमि विशेष चमत्कार के साथ रँगी, उस पर कृष्ण की शृंगारमयी मूर्ति अपनी संपूर्ण श्री-शोभा के साथ अंकित की। चित्रकला के ये रंग हिंदी में सूर के आविष्कृत हैं। इन पर सूर की छाप लगी है—इसी छाप से वे पहचाने जाते हैं।

सीमा में निस्सीम की झलक और विविधता में एकता, कवि सूर की इतनी ही कला-समृद्धि नहीं है, उन्होंने माइकेल एंजिलो की भाँति कला में धर्म की शक्तिपूर्ण भावना भी सन्निहित कर दी है। यह सूर के स्वर की विशेषता है कि जो कृष्ण नख से शिख तक सौंदर्य की मूर्ति हैं वे ही हमारी स्तुति के विषय बन गए। कलाओं का शृंगार पवित्र हो उठा, क्योंकि सूर की वाणी का उससे स्पर्श हो गया। ये ही कृष्ण जब दूसरे कवियों के हाथ में पड़े तो नायिकाओं के आमोद-विषय, अष्टयाम और षड्ऋतुओं के आलंबन एवं निम्न-भावनाओं तक के प्रेरक बन गए; किंतु सूर के हाथ में वे सर्वत्र पूत—सर्वत्र पावन—बने हुए हैं। कला का रूप स्त्री रूप है। वह हमारे भावों की प्रतिमा है।

शास्त्रों में उसे सरस्वती कहते हैं। अपनी समस्त श्री-शोभा के साथ जब वह मोहिनी वेष धारण करती है, कविगण उसे जब अपनी संपूर्ण सौंदर्य-राशि से अलंकृत कर देते हैं, तब कौन है जो अचल बना रहे! यह कवियों के अधिकार की बात नहीं है कि वे इस कला-कामिनी का स्त्री-स्वरूप बदल सकें; परंतु इस कामिनी की मर्यादा की रक्षा तो सदैव कवियों के ही अधिकार में रही है। बहुतों ने इसकी मर्यादा की रक्षा की है बहुतों ने नहीं की। सूर ने न केवल इसे निष्कलंक रखा है, जगन्माता का रूप देकर मनुष्यों की दृष्टि में ऊपर उठा दिया है। अब हम सब विनत होकर उसकी अभ्यर्थना करते हैं।

यद्यपि सूर का काव्य कृष्ण के निर्विषय भक्तों के ही सम्यक् आनंद का हेतु है परंतु काव्य और कलाओं के सत्पात्र पाठक भी अपने अपने मनोनुकूल उससे रस प्राप्त कर सकते हैं। कला की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता यही है कि उसका रहस्य तो पारदर्शी रसिक जनों को ही ज्ञेय हो किंतु उसका सामान्य आनंद सर्व-जन-सुलभ बन जाय। आदि के विनय के पदों को पढ़कर यदि भगवान् की महत्ता का बोध हो सके, फिर उन्हीं महान् की कृष्णरूप की प्रतिमा बुद्धि और हृदय को स्पृहणीय बन जाय तो यह कम सफलता नहीं है। कृष्ण की लोक-लीलाओं में यदि 'अद्भुत और अलौकिक' का मिश्रण हमें रुचिकर नहीं है तो भी हम उस स्वच्छ भावना का रस ले सकते हैं जो एक मनोरम बालक की अनुरंजनकारिणी क्रीड़ाओं से हमें मिलता है। यदि हम 'सर्वं कृष्णमयं जगत्' की धारणा करके सूर के काव्य से तादात्म्य नहीं जोड़ सकते तो भी ब्रज-मंडल के रासरसिक, क्रीड़ाकारी कृष्ण और मथुरा के कर्तव्यपरायण, अनंतविरही कृष्ण की तुलना करके कवि की विस्तारमयी भावना पर मुग्ध हो सकते हैं। काव्य और कलाएँ जितना कुछ हमारी वासनाओं का मार्जन और प्रक्षालन कर सकती हैं—सूर का काव्य उसके किसी अंश में कम नहीं करता। जो कुछ तल्लीनता का सुख, व्यापक भावना का सौंदर्य है, वह सूर के काव्य में भी पूर्ण है। इसके अतिरिक्त सूर

के काव्य में जो अलौकिक अध्यात्म है वह अधिकारियों के लिये सदैव सुरक्षित है।

मनोविज्ञान के पंडितों को सूर के काव्य में जो कुछ असंगति अनुभव होती है उसे भी हम सुन लें। आरंभ में जब सूर प्रतिज्ञा करते हैं कि वे सगुण के पद कहेंगे तब हम आशा करते हैं कि वे भगवान् के गुणों का गान करेंगे। विनय के पदों से यह गान प्रारंभ होता है, किंतु इतने गुण-गान से ही कवि की लालसा नहीं मिटती। वह कृष्ण की अवतारणा करता है और तब वे ही कृष्ण (सगुण भगवान्) काव्य में हमारे सामने आते हैं। साहित्यिक मनोविज्ञान के विद्यार्थी को सूर का यह चमत्कार बहुत अधिक रुचेगा कि उन्होंने 'अकथ, अनादि, अनंत, अनूप' गुणमय भगवान् को कृष्ण-रूप में अवतरित किया है। इस अवतार का मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह पड़ता है कि कृष्ण अतिशय आकर्षण-संपन्न और तेजस्वी बनकर हमारे सम्मुख आते हैं। जैसे बिंदु में सिंधु के समा जाने की कल्पना सत्य हो गई हो ऐसा एक चमत्कार बोध होता है। पाश्चात्य साहित्य में भी प्रतिमा के भीतर विराट् रूप भरने की चेष्टा की गई है। महाकाव्यों में प्रायः सर्वत्र, और उपन्यास, नाटक आदि सामान्य साहित्य में भी कितनी ही असाधारण प्रभावशालिनी, शक्तिमयी और सुंदर मूर्तियाँ अंकित की गई हैं। बाइरन जैसे प्रेमिक कवि को भी 'चाइल्ड हेराल्ड' की विशाल सृष्टि करने की साध थी और रोम्याँरोलाँ ने तो अभी अपने 'जॉन क्रिस्टोफर' नाम के उदात्त पात्र पर नोबल पुरस्कार प्राप्त किया है। किंतु यदि काव्यकला और मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो सूर के कृष्ण का अवतरण जॉन क्रिस्टोफर आदि के विकास से कहीं अधिक चमत्कारी और शक्तिपूर्ण अनुभव होता है। इसमें असंभव की यदि कुछ बात है तो शुष्क दार्शनिक माथापच्ची का विषय है, काव्य में तो उस 'असंभव' की भी अनुपम ही छटा छाई है।

कृष्ण की बाललीलाओं का विद्युत-प्रवाह हमारी नसों में दौड़ने

लगता है। यदि उनका इस रूप में अवतार न होता तो इस प्रवाह से हम वंचित ही रहते। यह विद्युद्वेग कृष्ण की छवि में कहीं से स्थिरता या जड़त्व नहीं आने देता। उनकी लघु, सज्जित, अलंकृतमूर्ति भी हमें अद्भुत तेजस्विनी देख पड़ती है। इसमें अस्वाभाविकता कहाँ है? इसी मूर्ति की अर्चना में यदि सूर पदों की अंतिम पंक्तियों द्वारा श्रद्धा के कुसुम चढ़ाते हैं तो इसमें असंगति क्या देख पड़ती है? हमारे मनों में भी प्रायः वैसी ही भावना उत्पन्न होती है। कृष्ण के रूप-लावण्य को 'अवतार' की विद्युत्धारा सहस्रगुण दीप्तिमती बना देती है। क्या आश्चर्य यदि यशोदा के 'कन्हैया' सत्य ही सूर के स्वामी हों?

कृष्ण का जन्म-कर्म दिव्य है, शास्त्र के इस निरूपण को सूर ने कैसी रामबाण विधि से हृदयंगम करा दिया है! नायक कृष्ण ब्रज के समस्त निवासियों की दृष्टि के केंद्र-बिंदु बन गए हैं, यह तो आश्चर्य नहीं। वे यशोदा के 'प्रिय ललन', ग्वाल-बालों के 'सखा, सहचर' और सूर के 'स्वामी' हैं, यह सब संगत है। परंतु वे यह सब होते हुए भी इनमें से कुछ नहीं हैं—यही तो आश्चर्य है! उन्होंने गोपियों का सहवास किया पर उनका त्याग भी क्या ही अनोखा है! उनकी लीलाएँ—उनके व्यवहार—सब कैसे विचित्र हुए। वंशी बजाकर मोह लिया, तब निराश्रित छोड़कर चले गए! रास-रचना, चीर-हरण सब मस्तिष्क में एक धक्का देते हैं—एक चेतना उत्पन्न करते हैं—और काव्य में तो इनकी मनोहारिणी छवि झलकती ही है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से सूर के कृष्णावतार का अध्ययन करनेवाले यह भी अनुभव करेंगे कि जगत् माया और मिथ्या ही नहीं है क्योंकि इसमें भगवान् की लीलाएँ हुई हैं। दार्शनिक ब्रह्म की सत्ता में जगत् की भी सत्ता मानते हैं परंतु जब कृष्ण का अवतार हुआ तब तो जगत् की सत्ता और महिमा बहुत ही बढ़ गई। वह भगवान् का लीलानिकेतन बन गया। सूर आदि भक्तों की कविता से दूसरा निष्कर्ष यह निकाला गया कि कृष्ण वास्तव में मनुष्य-शरीर धारण कर

अवतरित हुए और उनके जीवन में वे सब घटनाएँ घटीं। इससे मनुष्य का शरीर भी अधिक महिमामय बन गया क्योंकि भगवान् ने इसे धारण किया। फिर कृष्ण की प्रत्येक लीला को उनका वास्तविक कृत्य मानकर मनुष्यों की उनमें एक विशेष प्रकार की अभिरुचि उत्पन्न हो गई। संगीत और नृत्य आदि कलाओं को एक नवीन प्रेरणा प्राप्त हुई जिससे उनकी प्रगति में विशेष सहायता मिली। अकबर और शाहजहाँ के दरबार में इन कलाओं का जो सुंदर विकास हुआ और लौकिक समृद्धि की जो एक नई ही धारा बही, उसमें सूर आदि की दिव्य कविता का कम प्रभाव नहीं पड़ा। कृष्ण की लीलाओं का अनुकरण आरंभ हुआ जिसके बहुत से बुरे प्रभाव भी पड़े। इस प्रकार भक्तवर सूर की कविता से जनता के मन में क्या भले-बुरे संस्कार जमे यह मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिकगण अनुसंधान कर सकते हैं। काव्य-विवेचन में तो मनोविज्ञान का प्रसंग इस कारण आ पड़ा है कि इसका आधार लेकर अनेक मिथ्या-दृष्टि आलोचक सूर की कविता पर जो दोष लगाते हैं उनके निराकरण की आवश्यकता थी।

यह सत्य है कि मनोविज्ञान की इस शैली से सूर जैसे कवियों की कविता की सामान्य दिशा भले ही दिखा दी जाय, उनका सम्यक्-दर्शन नहीं प्राप्त किया जा सकता। उन भक्त कवियों की राम और कृष्ण आदि की कल्पना इतनी अप्रतिम थी कि कुछ कहा नहीं जाता। कहने को तो सूर सगुण का गुणगान करने बैठे हैं पर न तो उनके गुणों की अवधि है न इनके गान की। इनके लिए यह जगत् राममय और कृष्णमय है तथापि जगत् के सब व्यापार मिथ्या ही हैं। सूर के पदों में प्रेम की कितनी मार्मिक व्यथा है किंतु साथ ही उनकी विरक्त आत्मा का भी कैसा निर्मल प्रतिबिंब है! अनुराग विराग की संपूर्ण वृत्तियाँ रामकृष्ण को अर्पण करने के उपरांत भी इन कवियों को कविता लिखने की साध हुई थी, तभी तो उसका रहस्य पाना दुस्तर हो पड़ता है। राम और कृष्ण सब सद्वृत्तियों के आधार हैं, परंतु तब असद्वृत्तियों का

आधार कौन होगा ? वे ही राम और वे ही कृष्ण उनके आधार हुए। वे उनके आधार भी हैं, आधेय और आधार-आधेय से परे भी हैं। रामचरितमानस में देव और दानव दोनों ही पक्षों की सब शक्तियाँ—प्रत्येक क्रिया-कलाप—राम की ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षप्रेरणा से संचालित होती हैं। कहने-सुनने में यह असंगत लगता है पर तुलसी का आंतरिक निष्कर्ष तो यही है कि राम की प्रेरणा से ही रावण सीता का हरण करता है, फिर उनसे लड़ता है, और मारा जाता है ! जगत् में जो कुछ भला है, बुरा है, सबका संस्थान राम में है। सूरदास के आचार्य्य वल्लभ के मत में भी ब्रह्म (कृष्ण) ही कर्त्ता और ब्रह्म (कृष्ण) ही भोक्ता है। कृष्ण ही कृष्ण के साथ रास रचते हैं जैसे बालक अपने प्रतिबिंब को लेकर क्रीड़ा करता है। यह सब मनोवैज्ञानिकों के लिये इंद्रजाल है परंतु यहाँ के संत कवियों की यही प्रमुख धारणा है जो उनके काव्य में व्यक्त हुई है। इसी अनन्य तन्मयता का साक्षात्कार करके काव्य के दार्शनिक आलोचकों ने सूर आदि भक्तों की कविता में ईश्वर, जीव और जगत् के तात्त्विक संबंध की खोज-बीन आरंभ की है। अन्यत्र, टिप्पणी में, हमने उक्त आलोचकों की इस लक्ष्यार्थ-उद्‌भावना की चर्चा की है।

प्राकृतिक उपमाएँ, सहज सुंदर स्वाभाविक चित्र, ये सब सूर को सुखद थे; किंतु सबसे अधिक सुखद तो थे कृष्ण जिनमें इन्होंने अपने को भुला दिया था। रामचरितमानस में तुलसीदास ने वाल्मीकीय रामायण की कथा लेकर घटना-मौलिकता का तिरस्कार कर दिया। सूर भी भागवत की कथा पदों में गाकर इन दिनों के 'मौलिक-कवि' के आसन को त्याग चुके। इन कवियों का उत्कर्ष सच पूछिए तो नव नव प्राकृतिक चित्रण में उतना नहीं है जितना भावना का विस्तार करके उसे राममय और कृष्णमय बना देने में है। लौकिक और अलौकिक जितने भी संबंध हैं सब राम-कृष्ण के सूत्र से हैं, नहीं तो नहीं हैं। लोक, परलोक, आचार, विचार, सब धर्म, सब कर्म कृष्ण तक हैं। प्रकृति भी—प्राकृतिक सब वस्तुएँ भी—कृष्ण के सामने कोई

अस्तित्व नहीं रखती। महात्मा सूर के दीक्षागुरु आचार्य्य वल्लभ ने, कृष्ण के गीत को भी, नृत्य को भी, आनंदमय—ब्रह्मानंदमय—स्वरूप दे दिया था। ब्रह्म सत्, चित् और आनंद स्वरूप है। कृष्ण परब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं। गोपिकाओं का—जीवों का—आनंद गुण जाग्रत हो उठा तब वे भी कृष्ण से भिन्न नहीं रहीं। ऐसी एकांत साधना का लक्ष्य रखनेवाले आचार्य्य वल्लभ जैसे गुरु और महात्मा सूरदास जैसे उनके गायक प्राकृतिक मनोविज्ञान का कहाँ तक निर्वाह कर सकते थे?

ये भक्तगण सदैव एक आश्चर्यजनक ऊँचे स्थल पर एक अलौकिक मनस्थिति बनाकर भावनाओं के क्षेत्र में विचरण करते थे अतः इन्हें सामान्य समीक्षाकार ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। एक परम रमणीय, अपरिचित सी—समाधि की सी—परिस्थिति की सृष्टि करके उसमें अद्वैत-भाव से आत्मा को रमा देना जिनके कविकर्म का बाना था, वे लोक-चित्रण की क्या चिंता करते? सूर का एक पद है—

जब मोहन कर गही मथानी।

परसत कर दधि-माट नेति, चित उदधि, सैल, वासुकि भय मानी।

इसमें प्राकृतिक के नाम पर एक व्यंग्य और बाललीला के बदले एक अचंभा है। इन कवियों ने राम, कृष्ण आदि की जैसी कल्पना की थी और अपनी आत्माओं को संसार की धारणा-भूमि से उठाकर जिस उच्च स्तर पर ला रखा था उसे देखते हुए साधारण मनःशास्त्र की प्रक्रियाएँ और काल की प्रचलित व्यवस्थाएँ ही उनमें मिलेंगी, ऐसी आशा करना ही व्यर्थ है। इन भक्तों की भावना जब राममय और कृष्णमय हो गई थी तब इन्होंने राम और कृष्ण की प्रीतिवश जो कुछ माननीय वर्णन किया है उसे ही बहुत समझना चाहिए। काव्य के रहस्य से अवगत तुलसी, सूर आदि को छोड़कर और अधिकांश आत्माराम भक्त तो ऐसे-ऐसे बीहड़ कथानक बाँधकर काव्य करते थे कि वे अलोक-प्रचलित ही बने रहे।

आत्मतृप्ति इनकी साध्य थी, कविता नहीं। जहाँ जहाँ इनकी आत्मा

इन्हें ले गई, वहाँ-वहाँ वे गए। सूर और तुलसी भाग्यवश काव्यभूमि में ही बने रहे। सूर ने तो दृष्टकूटों में पहुँचकर एक बार काव्यक्षेत्र से किनारा भी कसा था। किंतु आत्मा का रहस्य स्वयं ही सरस काव्य है। इन कवियों ने खूब दिल खोलकर उस रस की वर्षा की। तीक्ष्णबुद्धि दार्शनिकों का मस्तिष्क जहाँ चक्कर काटता है वहाँ इन भक्तों की बराबर आमद-रफ्त रही। इन दिनों हमारे देश में रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे कवि और दार्शनिक निवास करते हैं; परंतु तुलसी, सूर आदि भक्तों की साधना कुछ और ही थी। उनकी एक पंक्ति पढ़कर भी आत्मा की वीणा झंकार उठती है। ठीक स्थान पर ठीक स्वर उनकी वाणी से निकला था। उनमें बहुत कुछ हमें प्राकृतिक मालूम होता है, मनोविज्ञान के प्रकांड समीक्षाकारों को कुछ अप्राकृतिक भी मालूम होता है! परंतु इस प्राकृतिक-अप्राकृतिक के ऊपर जाकर वह दिव्य आत्माओं की कविता जिसे स्पर्श करती है उसे स्पर्शमणि सी ही प्रतीत होती है।

प्रस्तावना और टिप्पणी में संक्षिप्त शैली से जो विचार प्रकट किए गए हैं वे विद्यार्थियों के लिये तभी लाभकर होंगे जब विद्वान् अध्यापक आवश्यक विस्तार के साथ इनका व्याख्यान करेंगे। मेरी बहुत दिनों से अभिलाषा रही है कि अपनी भाषा के भक्त-कवियों का साहित्य जब अपनी शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ाया जाता है, तब क्यों न वह अपने देश के विचारों और उन भक्तों की भावनाओं के अनुसार पढ़ाया जाय। अवश्य इसमें कठिनाइयाँ भी हैं। पाश्चात्य साहित्य की समीक्षा शैली-का जो प्रभाव हम पर पड़ चुका है और हिंदी में साहित्यशास्त्र के व्याख्याता अब तक जिस प्रणाली पर चल रहे हैं, उसमें सहसा परिवर्तन कौन कर देगा? यदि पश्चिमी दृष्टि से भक्तों की कविता में असंभव भाव भरे हुए हैं तो साहित्य और कलाओं का रहस्य उद्घाटन कर यह कौन दिखावेगा कि जो असंभव है वही कहीं उत्तम तो नहीं है! भारतीय साहित्य-शास्त्र की जो एक संकुचित सीमा बना ली गई है उसको तोड़कर व्यापक रूप का परिचय एक दिन में कोई नहीं करा सकता। परंतु यदि

धीरे-धीरे दिशा परिवर्तन का कार्य भी आरंभ हो जाय तो कुछ कम नहीं है। आरंभ से ही आरंभ किया जाय। साहित्य-कला के प्राथमिक तत्त्व विद्यार्थियों को बता दिए जायँ। भक्तों की विशद भावना का आभास दे दिया जाय। अपनी सम्यक् दृष्टि उन्हें दे दी जाय। फिर उनकी गति-मति आप ही सुधर जायगी। अब की भाँति वे व्यक्त-अव्यक्त को लेकर विवाद नहीं करेंगे, अपने देश का समन्वय समझ जायँगे। दिव्य काव्य की झलक देख लेंगे। ऊपर से धर्म-शिक्षा का बोझ लादकर चलने की आवश्यकता नहीं होगी। वे अपने साहित्य से ही अपने धर्म और दर्शन के तत्त्व ग्रहण कर लेंगे। ये तीनों शिक्षाएँ जो प्रचलित प्रणाली के प्रभाव से अलग-अलग हो गई हैं, एक हो जायँगी।

काशी
फाल्गुन, १९८९

नंददुलारे वाजपेयी

सूर-सुषमा

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगै मीठे फल क रस अंतरगतहीं भावै।
परम स्वाद सब-ही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन बानी कौ अगम अगोचर सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालंब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिँ तातैं सूर सगुन-पद गावै ॥१॥

सरन गए को को न उबार्‌यौ।
जब जब भीर परी संतनि कौँ चक्र सुदरसन तहाँ सँभार्‌यौ।
महाप्रसाद भयौ अंबरीष कौँ दुरबासा कौ क्रोध निवार्‌यौ।
ग्वालनि हेत धर्‌यौ गोवर्धन प्रगट इंद्र कौ गर्व प्रहार्‌यौ।
कृपा करी प्रह्लाद भक्त पर खंभ फारि हिरनाकुस मार्‌यौ।
नरहरि रूप धर्‌यौ करुनाकर छिनक माहिँ उर नखनि बिदार्‌यौ।
ग्राह ग्रसत गज कौँ जल-बूड़त नाम लेत वाकौ दुख टार्‌यौ।
सूर स्याम बिनु और करै को रंगभूमि मैँ कंस पछार्‌यौ ॥२॥

जापर दीनानाथ ढरै।
सोइ कुलीन, बड़ौ सुंदर सोइ, जिहिँ पर कृपा करै।
कौन बिभीषन रंक निसाचर, हरि हँसि छत्र धरै।

राजा कौन बड़ौ रावन तैँ, गर्वहिं-गर्व गरै।
रंकव कौन सुदामा हू तैँ, आप समान करै।
अधम कौन है अजामील तैँ, जम तहँ जात डरै।
कौन विरक्त अधिक नारद तैँ, निसि-दिन भ्रमत फिरै।
अधिक कुरूप कौन कुब्जा तैँ, हरि पति पाइ तरै।
अधिक सुरूप कौन सीता तैँ, जनम वियोग भरै।
जोगी कौन बड़ौ संकर तैँ, ताकौँ काम छरै।
यह गति मति जानै नहिँ कोऊ किहिँ रस रसिक ढरै।
सूरदास भगवंत-भजन विनु फिरि फिरि जठर जरै॥ ३॥

कीजै प्रभु अपने विरद की लाज।
महापतित, कबहूँ नहिँ आयौ नैँकु तिहारैँ काज।
माया सवल धाम-धन-वनिता वाँध्यौ हौँ इहिँ साज।
देखत-सुनत सवै जानत हौँ, तऊ न आयौँ वाज।
कहियत पतित वहुत तुम तारे, स्रवननि सुनी अवाज।
दई न जाति खेवट-उतराई, चाहत चढ़्यौ जहाज।
लीजै पार उतारि सूर कौँ महाराज व्रजराज।
नई न करन कहत, प्रभु तुम हौ सदा गरीव-निवाज॥ ४॥

अपनैँ जान मैँ वहुत करी।
कौन भाँति हरि कृपा तुम्हारी, सो स्वामी, समुझी न परी।
दूरि गयौ दरसन के ताईँ, व्यापक प्रभुता सव विसरी।

मनसा-वाचा-कर्म-अगोचर सो मूरति नहिँ नैन धरी।
गुन बिनु गुनी, सुरूप रूप बिन, नाम बिना श्री स्याम हरी॥
कृपासिंधु अपराध अपरिमित, छमौ, सूर तैँ सब बिगरी॥५॥

माधौ जू जो जन तैँ बिगरै।
तउ कृपाल-करुनामय केसव, प्रभु नहिँ जीय धरै।
जैसेँ जननि-जठर-अंतरगत सुत अपराध करै।
तौऊ जतन करै अरु पोषै, निकसैँ अंक-भरै।
जद्यपि मलय-बृच्छ जड़ काटै, कर कुठार पकरै।
तऊ सुभावे सुगंध सु सीतल, रिपु-तन-ताप हरै।
धर बिधंसि नल करत किरपि हल बारि-बीज बिथरै।
सहि सनमुख तउ सीत-उष्न कौँ सोई सफल करै।
रसना द्विज दलि दुखित होति बहु तउ रिस कहा करै।
छमि सब छोभ जु छाँड़ि छवौ रस लै समीप सँचारै।
कारन-करन दयाल दया-निधि निज भय दीन डरै।
इहिँ कलिकाल-ब्याल-मुख-ग्रासित सूर सरन उबरै॥६॥

जनम सिरानौ अटकैँ अटकैँ।
राजकाज सुत बित की डोरी बिनु बिबेक फिर्‍यौ भटकैँ।
कठिन जु गाँठि परी माया की तोरी जाति न झटकैँ।
ना हरि-भक्ति, न साधु-समागम रह्यौ बीच हीँ लटकैँ।
ज्यौँ बहु कला काछि दिखरावै लोभ न छूटत नट कैँ।
सूरदास सोभा क्यौँ पावै पिय-बिहीन धनि मटकैँ॥७॥

८

रे मन राम सौं करि हेत।
हरि-भजन की बारि करि लै उबरै तेरौ खेत।
मन सुवा, तन पींजरा, तिहिँ माँझ राखौ चेत।
काल फिरत बिलार-तनु धरि, अब धरी तिहिँ लेत।
सकल विषय-विकार तजि तू उतरि सागर-सेत।
सूर भजु गोविंद-गुन तू गुर बताए देत ॥८॥

९

मन तोसौँ कोटिक बार कही।
समुझि न चरन गहे गोविँद के उर अघ-सूल सही।
सुमिरन ध्यान कथा हरि जू की यह एकौ न रही।
लोभी लंपट विषयिनि सौँ हित यौँ तेरी निवही।
छाँड़ि कनक-मनि रत्न अमोलक काँच की किरच गही।
ऐसो तू है चतुर विवेकी पय तजि पियत मही।
ब्रह्मादिक रुद्रादिक रवि ससि देखे सुर सवहीँ।
सूरदास भगवंत भजन विनु सुख तिहुँ लोक नहीँ ॥९॥

१०

धोखैँ ही धोखैँ डहकायौ।
समुझि न परी विषय रस गीध्यौ हरि हीरा घर माँझ गँवायौ।
ज्यौँ कुरंग जल देखि अवनि कौ प्यास न गई दसौँ दिसि धायौ।
जनम जनम बहु करम किए हैँ तिनमैँ आपुन आपु बँधायौ।
ज्यौँ सुक सेमर-फल-आसा लगि निसि-वासर हठि चित्त लगायौ।
रीतौ पर्यौ जवै फल चाख्यौ उड़ि गयौ तूल, ताँवरो आयौ।

ज्यौं कपि डोरि बाँधि बाजीगर कन कन कौं चौहटैं नचायौ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु काल-ब्याल पैं आपु खवायौ ॥१०॥

११

सोइ रसना जो हरि-गुन गावै।
नैननि की छवि यहै चतुरता जो मुकुंद मकरंदहिँ ध्यावै।
निर्मल चित तौ सोई साँचौ कृष्न बिना जिहिँ और न भावै।
स्रवननि की जु यहै अधिकाई सुनि हरि-कथा सुधारस पावै।
कर तेई जो स्यामहिँ सेवैं चरननि चलि बृंदावन जावैं।
सूरदास जैये बलि ताकौं जो हरि जू सौं प्रीति बढ़ावै ॥११॥

१२

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
या देही कौ गर्ब न करिए स्यार-काग-गिध खैहैं।
तीननि मैं तन कै बिष्टा, कृमि, कै ह्वै खाक उड़ैहैं।
कहँ वह नीर, कहाँ वह सोभा, कहँ रँग-रूप दिखैहैं।
जिन लोगनि सौं नेह करत है तेई देखि घिनैहैं।
घर के कहत सवारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहैं।
जिन पुत्रनिहिँ बहुत प्रतिपाल्यौ, देवी देव मनैहैं।
तेई लै खोपरी बाँस दै, सीस फोरि बिखरैहैं।
अजहूँ मूढ़ करौ सतसंगति, संतनि मैं कछु पैहैं।
नर-बपु धारि भजत नहिँ हरि कौं, जम की मार सो खैहैं।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु बृथा सु जन्म गँवैहैं ॥१२॥

13

जौ लौं मन-कामना न छूटै।
तौ कह जोग जग्य ब्रत कीन्हें बिनु कन तुस कौं कूटै।
कह असनान किएँ तीरथ के अंग भस्म जट जूटै।
कहा पुरान जु पढ़ैं अठारह ऊर्ध्व धूम के घूटै।
जग शोभा की सकल बड़ाई इनतें कछू न खूटै।
करनी और कहै कछु औरै मन दसहूँ दिसि टूटै।
काम क्रोध मद लोभ सत्रु हैं जौ इतननि सौं छूटै।
सूरदास तब हीं तम नासै ग्यान अग्नि झर फूटै॥१३॥

14

हरि जू की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी परति न गिरा गनी।
कच्छप अध आसन अनूप अति डाँड़ी सहसफनी।
मही सराव सप्तसागर घृत बाती सैल घनी।
रवि-ससि ज्योति जगत परिपूरन हरति तिमिर रजनी।
उड़त फूल उड़गन नभ अंतर अंजन घटा घनी।
नारदादि सनकादि प्रजापति सुर नर असुर अनी।
काल कर्म गुन ओर अंत नहिं प्रभु इच्छा रचनी।
यह प्रताप दीपक सु निरंतर लोक सकल भजनी।
सूरदास सब प्रगट ध्यान मैं अति विचित्र सजनी॥१४॥

15

जसोदा हरि पालनै झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै।

मेरे लाल कौं आउ निँदरिया, काहे न आनि सुनावै।
तू काहैं नहिँ वेगिहिँ आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रही, करि करि सैन बतावै।
इहिँ अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभ, सो नित जसुमति पावै ॥१५॥

16

नैंकु गोपालहिँ मोकौं दै री।
देखौं वदन-कमल नीकैं करि, ता पाछैं तू कनियाँ लै री।
अति कोमल कर-चरन-सरोरुह, अधर दसन, नासा सोहै री।
लटकन सीस, कंठ मनिराजन, मनमथ वारनैं दै री।
वासर-निसा विचारति हौं सखि, यह सुख कवहुँ न पायौ मैं री।
निगमनि-धन, सनकादिक-सरवस, बड़े भाग्य पायौ तैं है री।
जाकैं रूप, जगत के लोचन, कोटि चंद्र-रवि, लाजत भै री।
सूरदास वलि जाइ जसोदा, गोपिनि-प्रान, पूतना-वैरी ॥१६॥

17

सुत-मुख देखि जसोदा फूली।
हरषित देखि दूध की दँतुली प्रेम-मगन तन की सुधि भूली।
वाहिर तैं तव नंद वुलाए देखौ धौं सुंदर सुखदाई।
तनक तनक सी दूध-दँतुलिया देखौ नैन सफल करौ आई।
आनँद-सहित महर तव आए मुख चितवत दोउ नैन अघाई।
सूर स्याम किलकत द्विज देख्यौ मनौ कमल पर विज्जु जमाई॥१७॥

ललन मैं या छबि ऊपर वारी।
बाल गुपाल लगौ इन नैननि, रोग बलाइ तुम्हारी।
कुटिल अलक, मोहन मुख बिहँसत, भृकुटी बिकट नियारी।
मानौ कमल-दल सावक पेखत, उड़त मधुप छबि-भारी।
लोचन ललित कपोलनि काजर, छबि उपजति अधिकारी।
सुख मैं सुख औरै रुचि उपजति, हँसत, देत किलकारी।
अलप दसन, कलबल करि बोलनि, बुधि नहिं परत बिचारी।
निकसति ज्योति अधर के बिच मनु बिधु मैं बिज्जु उज्यारी।
सुंदरता कौ पार न पावति रूप देखि महतारी।
सूर सिंधु की बूँद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी॥

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित मुख दधि लेप गिए।
चारु कपोल लोल-लोचन-छबि रोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप-गन मादक मधुहि पिए।
कठुला कंठ बज्र, केहरि-नख राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख का सत कल्प जिए॥१९॥

बाल-बिनोद खरो जिय भावत।
मुख-प्रतिबिंब पकरिबैं कारन हुलसि घुटुरुवनि धावत।
अखिल ब्रह्मंड खंड की महिमा सिसुता माँहि दुरावत।
सब्द जोरि बोल्यौ चाहत हैं प्रगट बचन नहिं आवत।

कमल-नयन माखन माँगत हैं ग्वालिनि सैन बतावत।
सूरदास स्वामी सुख-सागर जसुमति प्रीति बढ़ावत॥२०॥

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन बिंब पकरिबैं धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ पुनि पुनि तिहिं अवगाहत।
कनक-भूमि पर कर पग छाया यह उपमा इक राजत।
करि करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजत।
बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा पुनि पुनि नंद बुलावति।
अँचरा तर लै ढाँकि सूर के प्रभु कौं दूध पियावति॥२१॥

चलन चहत पाइनि गोपाल।
लए लाइ अँगुरिनि नँदरानी मोहन स्याम तमाल।
डगमगात गिरि परत पानि पर भुज भ्राजत नँदलाल।
जनु सिर पर ससि जानि अधोमुख धुकत नलिनि नमि नाल।
धूरि-धौत तन अंजन नैननि चलत लटपटी चाल।
चरन रनित नूपुर-धुनि मानौ बिहरत बाल मराल।
लट लटकनि सिर चारु चखौड़ा सुठि सोभा सिसु-भाल।
सूरदास ऐसौ सुख निरखत जग जीजै बहु काल॥२२॥

सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कै पानि गहावति डगमगाइ धरनी धरै पैया।

कबहुँक सुंदर बदन बिलोकति उर आनँद भरि लेति बलैया।
कबहुँक कुल-देवता मनावति चिरजीवहु मेरो कुँअर कन्हैया।
कबहुँक बल कौं टेरि बुलावति इहिं आगन खेलौ दोउ भैया।
सूरदास स्वामी की लीला अति प्रताप बिलसत नँदरैया ॥२३॥

२५

आँगन स्याम नचावहीं जसुमति नँदरानी।
तारी दै दै गावही मधुरी मृदु बानी।
पाइनि नूपुर बाजई कटि किंकिनि कूजै।
नन्ही नन्ही एड़ियनि अरुनता फल बिंब न पूजै।
जसुमति गान सुनै स्रवन तब आपुनु गावै।
तारि बजावत देख ही पुनि तारि बजावै।
केहरि-नख उर पर रुरै सुठि सोभाकारी।
मनौ स्याम घन मध्य मैं नव ससि उजियारी।
गभुआरे सिर केस हैं वर घूँघरवारे।
लटकन लटकत भाल पर बिधु मधि गन तारे।
कठुला कंठ चिबुक तरे मुख दसन बिराजै।
खंजन बिच सुक आनि कै मनु पर्‍यो दुराजै।
जसुमति सुतहिं नचावई छबि देखति जिय तैं।
सूरदास प्रभु स्याम कौ मुख टरत न हिय तैं ॥२४॥

2-6

जब मोहन कर गही मथानी।
परसत कर दधि-माट नेति, चित उदधि, सैल, बासुकि भय मानी।
कबहुँक अहुँठ परग नहिं बसुधा कबहुँक देहरि उलँघि न जानी।

कबहुँक सुर-मुनि ध्यान न पावत कबहुँ खिलावत नँद की रानी।
कबहुँक अमर-खीर नहिं भावत कबहुँक दधि-माखन रुचि मानी।
कबहुँक अखिल लोक उदरहिं मैं कबहुँ मेखला उदर समानी।
कबहुँक आर करत माखन की कबहुँक भेष दिखाइ बिनानी।
सूरदास प्रभु की यह लीला परति न महिमा सेस बखानी ॥२५॥

26

गोपालराइ दधि माँगत अरु रोटी।
माखन सहित देहि मेरी मैया सुपक सुकोमल मोटी।
कत हौ आरि करत मेरे मोहन तुम आँगन मैं लोटी।
जो चाहो सो लेहु तुरत ही छाँड़ो यह मति खोटी।
करि मनुहारि कलेऊ दीन्हौं मुख चुपर्‌यौ अरु चोटी।
सूरदास कौ ठाकुर ठाढ़ौ हाथ लकुटिया छोटी ॥२६॥

27

मैया मोहिं बड़ौ करि लै री।
दूध दही घृत माखन मेवा जो माँगौं सो दै री।
कछू हँसि राखै जिनि मेरी जोइ जोइ मोहिं रुचै री।
होहुँ बेगि मैं सबल सबनि मैं सदा रहौं निरभै री।
रंगभूमि मैं कंस पछारौं घीसि बहाऊँ बैरी।
सूरदास स्वामी की लीला मथुरा राखौं जै री ॥२७॥

28

हरि अपनैं आँगन कछु गावत।
तनक तनक चरननि सौं नाचत मन हरि लेत रिझावत।
बाँह उठाइ काजरी धौरी गैयनि टेरि बुलावत।

कबहुँक बाबा नंद पुकारत कबहुँक घर मैं आवत।
माखन तनक आपने कर लै तनक बदन मैं नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ मैं लवनी लिए खवावत।
दुरि देखति जसुमति यह लीला हरष अनंद बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल-चरित नितही नित देखत भावत ॥२८॥

लैहौं री माँ चंद लहौंगौ।
कहा करौं जल-पुट-भीतर कौ बाहर ब्यौंकि गहौंगौ।
यह तौ झलमलात झकझोरत कैसैं कै जु चहौंगौ।
वह तौ निपट निकट ही दीखत बरज्यौ हौं न रहौंगौ।
तुम्हरौ प्रेम प्रगट मैं जानत बौराए न बहौंगौ।
सूर स्याम कहै कर गहि ल्याऊँ ससि-तन-ताप दहौंगौ ॥२९॥

भोर भए निरखत हरि कौ मुख प्रमुदित जसुमति हरषित नंद।
दिनकर-किरन कमल ज्यौं बिकसत निरखत उर उपजत आनंद।
बदन उघारि जगावति जननि जागहु बलि गई आनँद-कंद।
मनहुँ मथत सुर सिंधुफेन फटि दयौ दिखाई पूरन चंद।
जाकौं ईस सेस ब्रह्मादिक गावत नेति नेति स्रुति छंद।
सोइ गोपाल ब्रज मैं सुनि सूरज प्रगटे पूरन परमानंद ॥३०॥

जागौ जागौ हो गोपाल।
नाहिँन इतौ सोइयत सुनि सुत प्रात समय सुचि काल।
फिरि फिरि जात निरखि मुख छिन छिन सब गोपनि के बाल।

विन विकसे कल कमल-कोष तें मनु मधुकर की माल।
जो तुम मोहिं न पत्याहु सूर प्रभु सुंदर स्याम तमाल।
तो तुमही देखौ आपुन तजि निद्रा नैन विसाल ॥३१॥

मैया मोहिं दाऊ वहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौं तू जसुमति कब जायौ।
कहा कहौं इहिं रिस के मारैं खेलन हौं नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तेरौ तात।
गोरे नंद जसोदा गोरी तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत हँसत सबै मुसुकात।
तू मोही कौं मारन सीखी दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातैं जसुमति सुनि सुनि रीझै।
सुनहु कान्ह वलभद्र चवाई जनमत ही कौ धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं हौं माता तू पूत ॥३२॥

खेलन अव मेरी जाइ वलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन सँग तव खिझवत वल भैया।
मोसौं कहत तात वसुदौ कौ देवकि तेरी मैया।
मोल लियौ कछु दै करि तिनकौं करि करि जतन वढ़ैया।
अव वावा कहि कहत नंद सौं जसुमति सौं कहै मैया।
ऐसैं कहि सब मोहिं खिझावत तव उठि चल्यौ खिसैया।
पाछैं नंद सुनत हे ठाढ़े हँसत हँसत उर लैया।
सूर नंद वलरामहिं धिरयौ सुनि मन हरष कन्हैया ॥३३॥

जेँवत कान्ह नंद इक ठौरे।
कछुक खात लपटावत दोउ कर बाल-केलि अति भोरे।
बरा-कौर मेलत मुख भीतर मिरिच दसन टकटोरे।
तीछन लगी नैन भरि आए रोवत बाहर दौरे।
फूँकति बदन रोहिनी ठाढ़ी लिए लगाइ अँकोरे।
सूर स्याम कौँ मधुर कौर दै कीन्हे तात निहोरे ॥२४॥

जेँवत स्याम नंद की कनियाँ।
कछुक खात कछ धरनि गिरावत छवि निरखति नँद-रानियाँ।
बरी बरा बेसन बहु भाँतिनि व्यंजन विविध अगनिया।
डारत खात लेत अपनैँ कर रुचि मानत दधि-दनिया।
मिस्री दधि माखन मिस्रित करि मुख नावत छवि-धनिया।
आपुन खात नंद-मुख नावत सो छवि कहत न बनिया।
जो रस नंद-जसोदा बिलसत सो नहिँ तिहूँ भुवनिया।
भोजन करि नँद अँचमन लीन्हौँ माँगत सूर जुठनिया ॥२५॥

खेलत मैँ को काकौ गुसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबसही कत करत रिसैयाँ।
जाति पाँति हमतैँ बड़ नाहीँ नाहीँ बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैँ जातैँ अधिक तुम्हारैँ गैयाँ।
रुहठि करै तासौँ को खेलै रहे बैठि जहँ तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेलोइ चाहत दाँव दियो करि नंद-दुहैया ॥२६॥

गोपाल दुरे हैं माखन खात।

देखि सखी सोभा जु बनी है स्याम मनोहर गात।
उठि अवलोकि ओट ठाढ़े ह्वै जिहिं विधि हैं लखि लेत।
चकित नैन चहूँ दिसि चितवत और सखनि कौं देत।
सुंदर कर आनन समीप अति राजत इहिं आकार।
जलरुह मनो बैर बिधु सौं तजि मिलत लए उपहार।
गिरि गिरि परत बदन तैं ऊपर ह्वै दधि-सुत के बिंदु।
मानसु सुभग सुधा-कन बरषत प्रियजन-आगम इंदु।
बाल-बिनोद बिलोकि सूर प्रभु सिथिल भई ब्रज-नारि।
फुरै न बचन बरजबे कारन रही बिचारि बिचारि ॥२७॥

चोरी करत कान्ह धरि पाए।
निसि-बासर मोहिं बहुत सतायो अब हरि हाथहि आए।
माखन दधि मेरो सब खायो बहुत अचगरी कीन्ही।
अब तौ घात परे हौ ललना तुम्हैं भलैं मैं चीन्ही।
दोउ भुज पकरि कह्यौ कहँ जैहौ माखन लेउँ मँगाइ।
तेरी सौं मैं नैंकु न खायौ सखा गए सब खाइ।
मुख तन चितै बिहँसि हरि दीन्हौं रिस तब गई बुझाइ।
लयौ स्याम उर लाइ ग्वालिनी सूरदास बलि जाइ ॥२८॥

महरि तैं बड़ी कृपन है माई।
दूध दही है बिधि कौ दीनौ सुत डर धरत छपाई।
बालक बहुत नहीं री तेरैं एकै कुँवर कन्हाई।

सोऊ तौ घर ही घर डालत माखन खात चोराई।
वृद्ध वयस पूरे पुन्यनि तैं तैं बहुतै निधि पाई।
ताहू के खैबे पीबे कौं कहा करति चतुराई।
सुनहु न वचन चतुर नागरि के जसुमति नंद सुनाई।
सूर स्याम कौं चोरी कैं मिस देखन कौं यह आई ॥३९॥

भाजि गयो मेरे भाजन फोरि।
लरिका सहस एक सँग लीन्हेँ नाचत फिरत साँकरी खोरि
माखन खाइ जगाइ बालकनि बनचर सहित बछरुनि छोरि
सकुच न करत फाग सी खेलत गारी देत हँसत मुख मोरि।
बात कहौं तेरे ढोटा की सब ब्रज बाँध्यौ प्रेम की डोरि।
टोना सौ पढ़ि नावत सिर पर जो भावत सो लेत है छोरि।
आपु खाइ सो सब हम मानै और न देत सिकहरैं तोरि।
सूर सुतहिँ बरजौ नँदरानी अब तोरत चोली बँद-डोरि ॥४०॥

मैया मैं नहिँ माखन खायौ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सीके पर भाजन ऊँचैं धरि लटकायौ।
तुही निरखि नान्हे कर अपनैं मैं कैसैं करि पायौ।
मुख दधि पोँछि बुद्धि इक कीन्ही दौना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा स्यामहिँ कंठ लगायौ।
बाल-बिनोद मोद मन मोह्यौ भक्ति-प्रताप दिखायौ।
सूरदास यह जसुमति कौ सुख सिव बिरंचि नहिँ पायौ ॥४१॥

देखौ माई वालक की वात।
वन उपवन सरिता सर मोहे देखत स्यामल गात।
मारग चलत अनीति करत है हठ करि माखन खात।
पीतांवर वह सिर तैं ओढ़त अंचल दै मुसुकात।
तेरी सौं कह कहौं जसोदा उरहन देति लजात।
जव हरि आवत तेरे आगैं सकुचि तनक ह्वै जात।
कौन कौन गुन कहूँ स्याम के नैंकु न काहु डरात।
सूर स्याम मुख निरखि जसोदा कहति कहा यह वात ॥४२॥

जसोदा तेरौ मुख हरि जोवै।
कमलनैन हरि हिचकिनि रोवै वंधन छोरि जसोवै।
जौ तेरौ सुत खरौ अचगरौ तऊ कोखि कौ जायौ।
कहा भयौ जो घर कैं ढोटा चोरी माखन खायौ।
कोरी मटुकी दह्यौ जमायौ जाख न पूजन पायौ।
तिहि घर देव पितर काहे कौ जा वर कान्हर आयौ।
जाकौ नाम लेत भ्रम छूटै कर्म-फंद सव काटै।
सो हरि प्रेम-जेँवरी वाँधे जनति साँटि लै डाटै।
दुखित जानि दोउ सुत कुवेर के तिन हित आपु वँधायौ।
सूरदास प्रभु भक्त-हेत ही देह धारि तहँ आयौ ॥४३॥

हरि-मुख देखि हो नँद-नारि।
महरि ऐसे सुभग सुत सौं इतौ कोह निवारि।
जलज-मंजुल लोल लोचन सरति चितवनि दीन।

मनहु खेलत हैं परस्पर मकरध्वज द्वै मीन।
ललित कन-संजुत कपोलनि लसत कज्जल-अंक।
मनहु राजति रजनि पूरन कलापति कैं अंक।
वेगि वधन छोरि तन मन वारि लै हिय लाइ।
नवल स्याम-किसोर ऊपर सूर जन वलि जाइ ॥४४॥

देखि री नंद-नंदन ओर।
त्रास तैं तन-त्रसित भए हरि तकत आनन तोर।
वार वार डरात तोकौं वरन वदनहिं थोर।
मुकुर-मुख दोउ नैन ढारत छनहिं छन छवि-छोर।
सजल चपल कनीनिका पल अरुन ऐसें डोर (ल)।
रस भरे अंवुजनि भीतर भ्रमत मानौ भौंर।
लकुट कैं डर देखि जैसे भए स्रोनित ओर।
लाइ उरहिं वहाइ रिस जिय तजहु प्रकृति कठोर।
कछुक करुना करि जसोदा करति निपट निहोर।
सूर स्याम विलोकि जसुमति कहति माखन चोर ॥४५॥

सोभा कहत कहे नहिं आवै।
अँचवत अति आतुर लोचन-पुट मन न तृप्ति कौं पावै।
सजल मेघ घनस्याम सुभग वपु तड़ित वसन वनमाल।
सिखि-सिखंड वन-धातु विराजति सुमन सुरंग प्रवाल।
कछुक कुटिल कमनीय सघन सिर गो-रज-मंडित केस।
सोभित मनु अंवुज-पराग-रुचि-रंजित मधुप सुदेस।

कुंडल-किरनि कपोल-लोल छवि नैन कमल-दल मीन।
प्रति प्रति अंग अनंग-कोटि-छवि सुनि सखि परम प्रवीन।
अधर मधुर मुसुक्यानि मनोहर करति मदन मन हीन।
सूरदास जहँ दृष्टि परति है होति तहीँ लवलीन ॥४६॥

मैया बहुत बुरौ बलदाऊ।
कहन लग्यौ बन बड़ौ तमासौ सब मौड़ा मिलि आऊ।
मोहूँ कौँ चुचकारि गयौ लै जहाँ सघन बन झाऊ।
भागि चल्यौ कहि गयौ उहाँ तैँ काटि खाइ रे हाऊ।
हौँ डरपौँ, काँपौँ अरु रोवौँ कोउ नहिँ धीर धराऊ।
थरसि गयौँ नहिँ भागि सकौँ वै भागे जात अगाऊ।
मोसौँ कहत मोल कौ लीनौ आपु कहावत साऊ।
सूरदास बल बड़ौ चबाई तैसेहिँ मिले सखाऊ ॥४७॥

मैया हौँ गाय चरावन जैहौँ।
तू कहि महर नंद बाबा सौँ बड़ौ भयौ न डरैहौँ।
रैता पैता मना मनसुखा हलधर संगहिँ रैहौँ।
बंसी-बट-तर ग्वालनि कैँ सँग खेलत अति सुख पैहौँ।
ओदन भोजन दै दधि काँवरि भूख लगे तैँ खैहौँ।
सूरदास है साखि जमुन-जल सौँह देहु जु नहैहौँ ॥४८॥

जसुमति दौरि लिए हरि कनियाँ।
आजु गयौ मेरौ गाइ चरावन हौँ बलि जाउँ निछनियाँ।
मो कारन कछु आन्यौ नाहीँ बन-फल तोरि नन्हैया।

तुमहिँ मिलैं मैं अति सुख पायौ मेरे कुँअर कन्हैया।
कछुक खाहु जो भावै मोहन दै री माखन-रोटी।
सूरदास प्रभु जीवहु जुग जुग हरि हलधर की जोटी ॥४९॥

मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं मेरे पाइ पिराइ।
जौ न पत्याहि पूछि बलदाउहिँ अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि गारी देति रिसाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कौं आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरो अति बालक मारत ताहि रिँगाइ ॥५०॥

देखौ माई सुंदरता कौ सागर।
बुधि बिवेक बल पार न पावत मगन होत मन नागर।
तनु अति स्याम अगाध अंबुनिधि कटि पट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजति भँवर परति सब अंग।
नैन-मीन मकराकृत कुंडल भुज-बल सुभग भुजंग।
मुक्ता माल मिलीं मानौ द्वै सुरसरि एकै संग।
मोर-मुकुट मनि-गन आभूषन कटि किंकिनि नख चंद।
मनु अडोल बारिधि मैं बिंबित राका उडुगन बृंद।
बदन चंद मंडल की सोभा अवलोकनि सुख देत।
जनु जलनिधि मथि प्रगट कियौ ससि श्री अरु सुधा समेत।
देखि सरूप सकल गोपीजन रहीं बिचारि बिचारि।
तदपि सूर तरि सकीं न सोभा रहीं प्रेम पचि हारि ॥५१॥

मुरली तऊ गुपालहिँ भावति।
सुनि री सखी जदपि नँदलालहिँ नाना भाँति नचावति।
राखति एक पाइ ठाढ़ौ करि अति अधिकार जनावति।
कोमल तन आज्ञा करवावति कटि टेढ़ी ह्वै आवति।
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नार नवावति।
आपुन पौँढ़ि अधर-सज्जा कर-पल्लव पलुटावति।
भृकुटी कुटिल नैन नासा-पुट हम पर कोप कुपावति।
सूर प्रसन्न जानि इक पल नहिँ अधर तैँ सीस डुलावति ॥५२॥

सखी री मुरली लीजै चोरि।
जिनि गुपाल कीन्हे अपनैँ वस प्रीति सवनि की तोरि।
छिन इक घर-भीतर निसि-बासर धरत न कबहूँ छोरि।
कबहूँ कर कबहूँ अधरनि कबहूँ कटि खोँसत जोरि।
ना जानौ कछु मेलि मोहिनी राखे अँग अँग भोरि।
सूरदास प्रभु कौ मन सजनी बँध्यौ राग की डोरि ॥५३॥

चले ब्रज-धरनि कौँ नर-नारि।
इंद्र की पूजा भिटाई तिलक गिरि कौ सारि।
पुलक अँग न समात उर मैँ महर-महरि समाज।
अब बड़े हम देव पाए गिरि गोवर्द्धन राज।
इनहिँ तैँ ब्रज चैन रहिहै माँगि भोजन खात।
यहै घैरा चलत ब्रज जन सवनि मुख यह वात।

नये सदननि आइ पहुँचे करत केलि-विलास।
सूर प्रभु यह करी लीला इंद्र-रिस परकास ॥५४॥

रीती मटुकी सीस धरैं।
वन की, घर की, सुरति न काहूँ लेहु दही यह कहति फिरैं।
कबहुँक जाति कुंज भीतर कौं तहाँ स्याम की सुरति करैं।
चौंकि परतिं कछु तन-सुधि आवत जहाँ तहाँ सखि सुनति ररैं।
तब यह कहति कहाँ मैं इनसौं भ्रमि भ्रमि बन मैं वृथा मरैं।
सूर स्याम कैं रस पुनि छाकति वैसैं हीं ढँग बहुरि ढरैं ॥५५॥

कोउ माई लैहै री गोपालहिं।
दधि कौ नाम स्याम-सुंदर-रस विसरि गयौ ब्रजबालहिं।
मटुकी सीस फिरति ब्रज-वीथिनि बोलति वचन रसालहिं।
उफनत तक्र चहूँ दिसि चूवत चित लाग्यौ नँदलालहिं।
हँसति रिसाति बुलावति बरजति देखहु इनकी चालहिं।
सूर स्याम बिनु और न भावै या बिरहिनि बेहालहिं ॥५६॥

अब तौ प्रगट भई जग जानी।
वह मोहन सौं प्रीति निरंतर क्यौंऽब रहैगी छानी।
कहा करौं सुंदर मूरति इन नैननि माँझ समानी।
निकसति नहीं बहुत पचि हारी रोम रोम अरुझानी।
अब कैसैं निरवारि जानिहै मिली दूध ज्यौं पानी।
सूरदास-प्रभु अंतरजामी उर अंतर की जानी ॥५७॥

बनी मोतिन की माल मनोहर।
सोभित स्याम-सुभग-उर-ऊपर मनु गिर तैं सुरसरी धँसी धर।
तट भुजदंड, भौंर भृगु-रेखा, चंदन-चित्र तरंग जु सुंदर।
मनि की किरन मीन कुंडल-छवि मकर मिलन आए त्यागे सर।
ता ऊपर रोमावलि राजति मनु वर-तीखन-जोति-सुता वर।
संतति ध्यान स्नान करत नित करम-कीच धोवत नीकैं कर।
जग्युपवीत विचित्र सूर सुनि मध्य-धार-धारा जु बनी वर।
संख चक्र गदा पद्म पानि मनु कमल कूल हंसनि कीन्हें घर॥५८॥

चितवनि रोकैं हूँ न रही।
स्यामसुंदर-सिंधु-सनमुख सरित उमँगि वही।
प्रेम-सलिल-प्रवाह भँवरनि मिति न कबहुँ लही।
लोभ-लहर-कटाच्छ घूँघट-पट-करार ढही।
थके पल-पथ नाव-धीरज परत नहिँन गही।
मिली सूर सुभाव स्यामहिँ फेरिहू न चही॥५९॥

मोहन वदन विलोकत अँखियनि उपजत है अनुराग।
तरनि-ताप-तलफत-चकोर-गति पिवत पियूप पराग।
लोचन नलिन नए राजत हैं रति-पूरन मधुकर भाग।
मानहु अलि आनंद मिले मकरंद पिवत रितु फाग।
भँवरिभाग भ्रकुटि पर कुमकुम चंदन-बिंदु विभाग।
चातक सोम सक्र-धनु घन मैं निरखत मन बैराग।
कुंचित केस मयूर-चंद्रिका-मंडल सुमन सुपाग।

मानहु मदन धनुष सर लीन्हे बरषत है बन बाग।
अधरबिंब तैं अरुन मनोहर मोहन मुरली-राग।
मानहु सुधा-पयोधि घेरि घन ब्रज पर बरषन लाग।
कुंडल मकर कपोलनि झलकत स्रम-सीकर के दाग।
मानहु मीन मकर मिलि क्रीड़त सोभित सरद-तड़ाग।
नासा तिल-प्रसून-पदवी पर चिबुक चारु चित-खाग।
दाड़िम दसन मंद-गति मुसुकनि मोहत सुर नर नाग।
श्री गुपाल-रस-रूप भरी हैं सूर सनेह सुहाग।
ऐसो सोभा-सिंधु बिलोकति इन अँखियन के भाग ॥६०॥

हरि-मुख निरखत नैन भुलाने।
ये मधुकर रुचि-पंकज-लोभी ताही तैं न उड़ाने।
कुंडल मकर कपोलनि कैं ढिग जनु रवि रैनि बिहाने।
भ्रुव सुंदर नैननि गति निरखत खंजन मीन लजाने।
अरुन अधर दुज कोटि बज्र-दुति ससि घन रूप समाने।
कुंचित अलक सिलीमुख मिलि मनु लै मकरंद उड़ाने।
तिलक ललाट कंठ मुकुतावलि भूषन मनिमय साने।
सूर स्याम रस-निधि नागर के क्यौं गुन जात बखाने ॥६१॥

सजनी निरखि हरि कौ रूप।
मनसि बचसि बिचारि देखौ अंग अंग अनूप।
कुटिल केस सुदेस अलि-गन बदन सरद सरोज।
मकर-कुंडल-किरनि की छबि दुरत फिरत मनोज।

अरुन अधर कपोल नासा सुभग ईषद हास।
दसन की दुति तड़ित नव ससि भ्रकुटि मदन-विलास।
अंग अंग अनंग जीते रुचिर उर वनमाल।
सूर सोभा हृदय पूरन देत सुख गोपाल ॥६२॥

देखि सखी अधरनि की लाली।
मनि मरकत तैं सुभग कलेवर ऐसे हैं वनमाली।
मनौ प्रात की घटा साँवरी तापर अरुन प्रकास।
ज्यौं दामिनि विच चमकि रहत है फहरत पीत सुवास।
कीधौं तरुन तमाल वेलि चढ़ि जुग फल विंब सुपाक्यौ।
नासा कीर आइ मनु वैठ्यौ लेत बनत नहिं ताक्यौ।
हँसत दसन इक सोभा उपजति उपमा जदपि लजाइ।
मनौ नीलमनि-पुट मुकता-गन वंदन भरि वगराइ।
किधौं वज्र-कन लाल नगनि खचि तापर विद्रुम-पाँति।
किधौं सुभग वंधूक-कुसुम-तर झलकत जल-कन-काँति।
किधौं अरुन अंवुज विच वैठी सुंदरताई आइ।
सूर अरुन अधरनि की सोभा वरनत वरनि न जाइ ॥६३॥

जौ विधिना अपवस करि पाऊँ।
तौ सखि कह्यौ होइ कछु तेरौ अपनी साध पुराऊँ।
लोचन रोम रोम प्रति माँगौं पुनि पुनि त्रास दिखाऊँ।
इकटक रहैं पलक नहिं लागैं पद्धति नई चलाऊँ।

कहा करौं छवि-रासि स्यामघन लोचन द्वै नहिं ठाऊँ।
एते पर ये निमिष सूर सुनि यह दुख काहि सुनाऊँ ॥६४॥

मैं मन बहुत भाँति समुझायौ।
कहा करौं दरसन-रस अँटक्यौ बहुरि नहीं घट आयौ।
इन नैननि के भेद रूप-रस उर में आनि दुरायौ।
वरजत ही बेकाज सुपन ज्यौं पलट्यौ ना जो सिधायौ
लोक वेद कुल निदरि निडर ह्वै करत आपनौ भायौ।
मुख-छवि निरखि चौंधि निसि-खग ज्यौं हठि आपुनहिं बँधायौ।
हरि कौं दोष कहा कहि दीजै यह अपनैं बल धायौ।
अति विपरीत भई सुनि सूरज मुरझ्यौ मदन जगायौ ॥६५॥

स्याम करत हैं मन की चोरी।
कैसे मिलत आनि पहिलैं हीं कहि कहि बतियाँ भोरी।
लोक-लाज की कानि गँवाई फिरति गुड़ी बस डोरी।
ऐसे ढंग स्याम अब सीख्यौ चोर भयो चित कौ री।
माखन की चोरी सहि लीनी बात रही वह थोरी।
सूर स्याम भयौ निडर तबहिं तैं गोरस लेत अँजोरी ॥६६॥

चूक परी मोतैं मैं जानी मिलैं स्याम बकसाऊँ री।
हा हा करि दसननि तृन धरि धरि लोचन नीर बहाऊँ री।
चरन गहौं गाढ़ैं करि कर सौं पुनि पुनि सीस छुवाऊँ री।
मुख चितवौं फिरि धरनि निहारौं ऐसैं रुचि उपजाऊँ री।

मिलौं धाइ अकुलाइ भुजनि भरि उर की तपति जनाऊँ री।
सूर स्याम अपराध छमहु अब यह कहि कहि जु सुनाऊँ री ॥६७॥

पिय-मुख देखौ स्याम निहारि।
कहि न जाइ आनन की सोभा रही विचारि विचारि।
छीरोदक घूँघट हातौ करि सन्मुख दियौ उघारि।
मनौ सुधाकर दुग्ध-सिंधु तैं कढ़्यौ कलंक पखारि।
मुक्ता-माँग सीस पर सोभित राजति इहिँ आकारि।
मानौ उड़गन जानि नवल ससि आए करन जुहारि।
भाल लाल-सिंदूर-विंदु पर मृगमद दियौ सुधारि।
मनौ बँधूक-कुसुम ऊपर अलि बैठ्यौ पंख पसारि।
चंचल नैन चहूँ दिसि चितवत जुग खंजन अनुहारि।
मनहु परस्पर करत लराई कीर बचाई रारि।
बेसरि के मुक्ता मैं झाईं बरन विराजति चारि।
मानौ सुरगुरु सुक्र भौम सनि चमकत चंद्र मँझारि।
अधर बिंब बिच दसन विराजत दुति दामिनि चमकारि।
चिबुक-विंदु बिच दियौ विधाता रूप सीवँ निरुवारि।
तरिवन स्रवन रतन मनि भूषित सिर सीमंत सँवारि।
जनु जुग भानु दुहूँ दिसि उगए भयौ द्विधा तम हारि।
लाल माल कुच बीच विराजति सखियनि गुही सिँगारि।
मनहुँ धुईं निर्धूम अग्नि पर तप बैठे त्रिपुरारि।
सन्मुख दृष्टि परैं मनमोहन लज्जित भई सुकुमारि।
लीन्ही उमँगि उठाइ अंक भरि सूरदास बलिहारि ॥६८॥

जे लोभी ते देहिँ कहा री।
ऐसे नैन नहीँ मैँ जाने जैसे निठुर महा री।
मन अपनौ कबहूँ बरु ह्वै है ये नहिँ होहिँ हमारे।
जब तैँ गए नंद-नंदन ढिग तब तैँ फिरि न निहारे।
कोटि करौँ वे हमहिँ न मानैँ गीधे रूप अगाध।
सूर स्याम जौ कबहूँ आवैँ रहै हमारी साध ॥६९॥

कपटी नैननि तैँ कोउ नाहीँ।
घर कौ भेद और के आगैँ क्यौँ कहिबे कौँ जाहीँ।
आपु गए निरधक ह्वै हम तैँ बरजि बरजि पचि हारी।
मनकामना भई परिपूरन ढरि रीझे गिरधारी।
इनहिँ बिना वे उनहिँ बिना ये अंतर नाहीँ भावत।
सूरदास यह जुग की महिमा कुटिल तुरत फल पावत ॥७०॥

लोचन टेक परे सिसु जैसैँ।
माँगत हैँ हरि-रूप-माधुरी खोज परे हैँ तैसैँ।
बारंबार चलावत उतहीँ रहन न पाऊँ बैसैँ।
जात चले आपुन हीँ अब लौँ राखे जैसेँ तैसेँ।
कोटि जतन करि-करि परबोधति कह्यौ न मानहिँ कैसैँ।
सूर कहूँ ठग-मूरी खाई व्याकुल डोलत ऐसैँ ॥७१॥

अँखियनि यहई टेव परी।
कहा करौँ बारिज-मुख-ऊपर लागति ज्यौँ भ्रमरी।

चितवति रहति चकोर चंद ज्यौं बिसरति नहिँ न घरी।
जद्यपि हटकि हटकि राखति हौं तद्यपि होति खरी।
गड़ि जु रहीँ वा रूप-जलधि मैं प्रेम-पियूष भरी।
सूर तहाँ नग-अंग परस-रस लूटति निधि सिगरी ॥७२॥

अँखियाँ हरि कैं हाथ बिकानी।
मृदु मुसुकानि मोल इनि लीन्हीं यह सुनि सुनि पछितानी।
कैसैं रहति रहीँ मेरैं बस अब कछु औरै भाँति।
अब वै लाज मरतिँ मोहिँ देखत बैठीँ मिलि हरि-पाँति।
सपने की सी मिलनि करति हैं कब आवतिँ कब जातिँ।
सूर मिलीँ ढरि नंद-नँदन कौं अनत नहीँ पतियातिँ ॥७३॥

अधर-रस मुरली लूटन लागी।
जा रस कौं षटऋतु तन गार्‍यौ सो रस पियति सभागी।
कहाँ रही कहँ तैं यह आई कौनैं याहि बुलाई।
चकृत भई कहती ब्रजवासिनि यह तौ भली न आई।
सावधान क्यौं होतिँ नहीँ तुम उपजी बुरी बलाइ।
सूरदास प्रभु हम पर थाकौं कीन्हीं सौति बजाइ ॥७४॥

मुरली स्याम कहाँ तैं पाई।
करत नहीँ अधरनि तैं न्यारी कहा ठगौरी लाई।
ऐसी ढीठि मिलत हीँ है गई उनके मनहीँ भाई।
हम देखत वह पयति सुधारस देखौ री अधिकाई।

कहा भयो मुख लागी हरि कैँ वचननि लिए रिझाई।
सूर स्याम कौँ विवस करावति कहा सौति सी आई ॥७५॥

मुरली नहिँ करत स्याम अधरनि तैँ न्यारी।
ठाढ़े ह्वै रहत एक पाइ तनु त्रिभंग करत
भरत नाद मुरली सुनि वस्य पुहुमि सारी।
थावर चर, चर थावर, जंगम जड़, जड़ जंगम,
सरिता उलटै प्रवाह पवन थकित भारी।
सुनि सुनि धुनि स्रवन तान स्वेद गए ह्वै पषान
तरु डोँगर धावत खग मृगनि सुधि विसारी।
उकठे तरु भए पात पाथर पर कमल जात
आरज पथ तज्यौ नात व्याकुल नर नारी।
रीझे प्रभु सूर स्याम वंसी-रव सुखद धाम
वासर हू जाम नहीँ जात कतहुँ टारी ॥७६॥

मुरली अति चली इतराइ।
अछय निधि जिनि लूटि पाई क्यौँ नहीँ सतराइ।
आदि जौ यह वड़ी होती चलति सीस नवाइ।
सवनि कौँ लै संग चलती दौरि मिलती आइ।
वाँस तैँ उत्पत्ति जाकी कहा वुधि ठहराइ।
सूर-प्रभु ता वस्य जैसैँ रहे तनु विसराइ ॥७७॥

मुरली हरि कौँ नाच नचावति।
एते पर यह वाँस-वँसुरिया नंद-नँदन कौँ भावति।

ठाढ़े रहत वस्य ऐसे है सकुचत बोलत बात।
वह निदरे आज्ञा करवावति नैं कहुँ नाहिँ लजात।
जब जानति आधीन भए हैँ देखति ग्रीव नवावत।
बैठत अधर चलित करपल्लव रंध्र चरन पलुटावत।
हम पर रिस करि करि अवलोकत नासा-पुट फरकावत।
सूर स्याम जब जब रीझत हैँ तब तब सीस डुलावत ॥७८॥

अधर-रस मुरली लूट करावति।
आपुन बार बार लै अँचवति जहाँ तहाँ ढरकावति।
आजु महा चढ़ि बाजी वाकी जोइ जोइ करै बिराजै।
कर-सिंहासन बैठि अधर सिर छत्र धरे वह गाजै।
गनति नहीँ अपनैँ बल काहुहिँ स्यामहिँ ढीठि कराई।
सुनहु सूर बन की बनवासिनि ब्रज मैँ भई रजाई ॥७९॥

मेरे दुख कौ ओर नहीँ।
षटऋतु सीत उष्न बरषा मैँ ठाढ़े पाइ रही।
कसकी नहीँ नैँ कहूँ काटत यामैँ राखी डारि।
अगिनि-सुलाक देत नहिँ मुरकी बेह बनावत जारि।
तुम जानति मोहिँ बाँस-बँसुरिया अगिनि छाप दै आई।
सूर स्याम ऐसैँ तुम लेहु न खिझति कहा हौ माई ॥८०॥

मुरली तप कियौ तनु गारि।
नैँ कुहूँ नहिँ अंग मुरकी जब सुलाखी जारि।

सरद ग्रीषम प्रबल पावस खरी इक पग भारि।
कटत हूँ नहिं अंग मोर्यौ साहसिनि अति नारि।
रिझै लीन्हे स्यामसुन्दर देति हौ कत गारि।
सूर-प्रभु तब हरे हैं री गुननि कीन्ही प्यारि ॥८१॥

नृत्यत अंग-अभूषन बाजत।
गति सुधंग सौं भाव दिखावत इक तैं इक अति राजत।
कहत न बनै रह्यौ रस ऐसौ बरनत बरनि न जाई।
जैसेइ बने स्याम तैसीयै गोपी छवि अधिकाई।
कंकन चुरी किंकिनी नूपुर पैंजनि बिछिया सोहति।
अद्भुत धुनि उपजति इनि मिलि कै भ्रमि भ्रमि इत उत जोहति।
सुनि-सुनि स्रवन रीझि मनहीं मन राधा रास-रसज्ञा।
सूर स्याम सबके सुखदायक लायक गुननि गुनज्ञा ॥८२॥

मानौ माई घन-घन-अंतर दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर सोभित हरि ब्रज-भामिनि।
जमुन-पुलिन मल्लिका मनोहर सरद-सुहाई-जामिनि।
सुंदर ससि गुन रूप-राग-निधि अंग अंग अभिरामिनि।
रच्यौ रास मिलि रसिक राइ सौं मुदित भईं ब्रज-भामिनि।
रूप-निधान स्यामसुंदर घन आनँद मन बिस्रामिनि।
खंजन-मीन-मयूर-हंस-पिक भाइ-भेद गजगामिनि।
को गति गनै सूर मोहन सँग काम बिमोह्यौ कामिनि ॥८३॥

खंजन नैन सुरँग रसमाते।
अतिसय चारु विमल चंचल ये पल पिँजरा न समाते।
बसे कहूँ सोइ बात कही सखि रहे इहाँ किहिँ नातैँ।
सोइ संज्ञा देखति औरासी विकल उदास कला तैँ।
चलि चलि जात निकट काननि ह्वै सकि ताटंक फँदातैँ।
सूरदास अंजन-गुन अँटके न तरु कबै उड़ि जाते ॥८४॥

चितई चपल नैन की कोर।
मन्मथ-बान दुसह अनियारे निकसे फूटि हिऐँ उहिँ ओर।
अति व्याकुल धुकि धरनि परे जिमि तरुन तमाल पवन कैँ जोर।
कहुँ मुरली कहुँ लकुट मनोहर कहुँ पट कहूँ चंद्रिका-मोर।
खन बूड़त खनहीँ खन उछरत विरह-सिंधु कैँ परे झकोर।
प्रेम-सलिल भीज्यौ पीरो पट फट्यौ निचोरत अंचल-छोर।
फुरैँ न वचन नैन नहिँ उघरत मानहुँ कमल भए बिनु भोर।
सूर सु अधर सुधारस सौँ चहु मेटहु मुरछा नंदकिसोर ॥८५॥

यह ऋतु रूसिबे की नाहीँ।
बरसत मेघ मेदिनी कैँ हित प्रीतम हरषि मिलाहीँ।
जेती बेलि ग्रीष्म रितु डाहीँ ते तरुवर लपटाहीँ।
जे जल बिनु सरिता ते पूरन मिलन समुद्रहिँ जाहीँ।
जोबन धन है दिवस चारि कौ ज्यौँ बदरी की छाहीँ।
मैँ दंपति-रस-रीति कही है समुझि चतुर मन माहीँ।

यह चित धरि री सखी राधिका दै दूती कौं बाहीं ।
सूरदास उठि चलहु राधिका सँग दूती पिय पाहीं ॥८६॥

मोहन जागि हौं बलि गई ।
ग्वाल-बालक द्वार ठाढ़े बेर बन की भई ।
पीत पट करि दूरि मुख तैं छाँड़ि दै अरसई ।
अति अनंदित होति जसुमति देखि दुति नित नई ।
जगे जंगम जीव पसु खग और ब्रज सबई ।
सूर के प्रभु दरस दीजै अरुन किरनि छई ॥८७॥

जागिए गुपाल लाल ग्वाल द्वार ठाढ़े ।
रैनि अंधकार गयौ चंद्रमा मलीन भयौ
तारागन देखियत नहिं तरनि-किरनि बाढ़े ।
मुकुलित भए कमल-जाल गुंज करत भृंग-माल
प्रफुलित बन पुहुप डाल कुमुदिनि कुँभिलानी ।
गंध्रबगन करत स्नान दान नेम धरत हरत
सकल पाप बदत विप्र वेद बानी ।
बोलत नँद बार बार मुख देखैं तुव कुमार
गाइनि भई बड़ी बार बृंदावन जैबैं ।
जननि कहति उठौ स्याम जानत जिय रजनि ताम
सूरदास प्रभु कृपाल तुमकौं कुछ खैबैं ॥८८॥

नटवर-वेष धरे ब्रज आवत ।
मोर-मुकुट मकराकृत कुंडल कुटिल अलक मुख पर छवि पावत ।

भ्रकुटी विकट नैन अति चंचल यह छवि पर उपमा इक धावत।
धनुष देखि खंजन बिबि डरपत उड़ि न सकत उड़िबैं अकुलावत।
अधर अनूप मुरलि-सुर पूरत गौरी राग अलापि बजावत।
सुरभी-बृंद गोप-बालक सँग गावत अति आनंद बढ़ावत।
कनक-मेखला कटि पीतांबर निरतत मंद मंद सुर गावत।
सूर स्याम-प्रति-अंग-माधुरी निरखत ब्रज-जन कैं मन भावत ॥८९॥

कमल-मुख सोभित सुंदर वेनु।
मोहन राग बजावत गावत आवत चारे धेनु।
कुंचित केस सुदेस वदन पर जनु साज्यौ अलि सैन।
सहि न सकति मुरली मधु पीवत चाहत अपनौ ऐन।
भ्रकुटि मनौ कर चाप आपु लै भयौ सहायक मैन।
सूरदास-प्रभु-अधर-सुधा लगि उपज्यौ कठिन कुचैन ॥९०॥

देखि री देखि मोहन ओर।
स्याम-सुभग-सरोज-आनन चारु चित के चोर।
नील तनु मनु जलद की छवि मुरलि-सुर घनघोर।
दसन दामिनि लसति बसननि चितवनि झकझोर।
स्रवन कुंडल गंड-मंडल उदित ज्यौं रवि भोर।
बरहि-मुकुट बिसाल माला इंद्र-धनु-छवि थोर।
धातु-चित्रित बेष नटवर मुदित नवलकिसोर।
सूर स्याम सुभाइ आतुर चितै लोचन-कोर ॥९१॥

आवत मोहन धेनु चराए।
मोर-मुकुट सिर उर वनमाला हाथ लकुट गो-रज लपटाए।
कटि कछनी किंकिनि-धुनि बाजति चरन चलत नूपुर-रव राए।
ग्वाल-मंडली-मध्य स्याम घन पात वसन दामिनिहिँ लजाए।
गोप सखा आवत गुन गावत मध्य स्याम हलधर छवि छाए।
सूरदास-प्रभु असुर सँहार्‍यो व्रज आवत मन हरप बढ़ाए ॥९२॥

सुंदर वर सँग ललना विहरति बसँत सरस रितु आई।
लै लै छरी कुमारि राधिका कमल-नैन पर धाई।
सरिता सीतल बहति मंद गति रवि उत्तर दिसि आयौ।
अति रस-भरी कोकिला बोली विरहिन विरह जगायौ।
द्वादस वन रतनारे देखियत चहुँदिसि टेँसू फूले।
मौरे अँबुआ अरु द्रुम-वेली मधुकर परिमल-भूले।
इत श्रीराधा उत श्रीगिरिधर इत गोपी उत ग्वाल।
खेलत फागु रसिक व्रज-वनिता सुंदर स्याम तामल।
चोवा चंदन अबिर कुमकुमा छिरकत भरि पिचकारी।
उड़त गुलाल अबीर जोति रवि दिसि दीपक उँजियारी।
ताल मृदंग बीन बाँसुरि डफ गावत गीत सुहाए।
रसिक गुपाल नवल-व्रज-वनिता निकसि चौहटैँ आए।
झूमि झूमि झूमक सब गावति बोलति मधुरी बानी।
देति परस्पर गारि मुदित मन तरुनी बाल सयानी।
सुरपुर नरपुर नागलोक जल थल क्रीड़ा सुख पावै।
प्रथम-वसंत-पंचमी-लीला सूरदास जस गावै ॥९३॥

बिछुरत श्री ब्रजराज आज इनि नैननि की परतीति गई।
उड़ि न मिले हरि संग बिहंगम ह्वै न गए घनस्याम मई।
यातैं क्रूर कुटिल सित मेचक बृथा मीन छवि छीनि लई।
रूप-रसिक लालची कहावत सो करनी कछु तौ न भई।
अब काहैं सोचत जल मोचत समय गए नित सूल नई।
सूरदास याही तैं जड़ भए जब पलकनि हठि दगा दई ॥९४॥

नंदनँदन के बिछुरैं अँखियाँ उपमा जोग नहीं।
कंज खंज मृग मीन न होहीं कबिजन बृथा कहीं।
कंज होहिं तौ मिलैं पलक-दल जामिनि होति जहीं।
खंजनहूँ उड़ि जात छिनक मैं प्रीतम जित तितहीं।
मृग होतीं रहतीं निसि-बासर चंद-बदन ढिगहीं।
रूप-सरोवर के बिछुरैं कहुँ जीवत मीन नहीं।
ये झरना लौं झरतिं रैनि-दिन उपमा सकल बही।
सूर स्याम प्रभु सौं मिलिबे कौं अब घट साँस रही ॥९५॥

सँदेसौ देवकी सौं कहियौ।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की मया करत ही रहियौ।
जदपि टेव तुम जानति उनकी तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहिं माखन-रोटी भावै।
उबटन तेल और तातौ जल देखत हीं भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करिकै न्हाते।

सूर पथिक सुनि मोहिँ रैनि-दिन बढ़्यौ रहत उर सोच ।
मेरौ अलक लड़ैतो मोहन ह्वै है करत सँकोच ॥९६॥

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसेहिँ धर्‌यौ रहै ।
को उठि प्रातकाल लै माखन को कर नेति गहै ।
सूनैँ भवन जसोदा सुत के गुन गुनि सूल सहै ।
नित उठि घर घेरत हीँ ग्वारिनि उरहन कोउ न कहै ।
जो ब्रज मैँ आनंद हुतौ मुनि मनसाहू न गहै ।
सूरदास-स्वामी बिन गोकुल कौड़ी हू न लहै ॥९७॥

नीकैँ रहियौ जसुमति मैया ।
आवहिँगे दिन चारि-पाँच मैँ हम हलधर दोउ भैया ।
जा दिन तैँ हम तुमतैँ बिछुरे कोउ न कह्यौ कन्हैया ।
कबहूँ प्रात न कियौ कलेवा साँझ न पीन्ही घैया ।
बंसी, बेत, बिषान देखियौ द्वार अबेर सबेरौ ।
लै जिनि जाइ चुराइ राधिका कछुक खिलौना मेरौ ।
कहियौ जाइ नंद बाबा सौँ बहुत निठुर मन कीन्हौ ।
सूरदास पहुँचाइ मधुपुरी बहुरि न सोधौ लीन्हौ ॥९८॥

ऊधौ, धनि तुम्हरौ व्यवहार ।
धनि वै ठाकुर, धनि वै सेवक, धनि तुम वर्त्तनहार ।
आमहिँ काटि बबूर लगावत, चंदन कौँ कुरवार ।
हमकौँ जोग, भोग कुबिजा कौँ, ऐसी समझ तुम्हार ।

तुम हरि, पढ़े चातुरी-विद्या, निपट कपट चटसार।
पकरत साहु, चोर कौं छाँड़त, चुगलनि कौ एतवार।
समुझि न परत तिहारी ऊधौ, हम ब्रजनारि गँवार।
सूरदास कैसैं निबहैगी अंधधुंध सरकार ॥९९॥

बिनु गुपाल बैरिनि भईं कुंजैं।
तब ये लता लगतिं अति सीतल,
अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना, खग बोलत,
वृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं।
पवन, पानि, घनसार, सजीवन,
दधिसुत-किरन भानु भइ भुंजैं।
ए ऊधौ! कहियौ माधौ सौं,
मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं।
सूरदास प्रभु कौ मग जोवत,
अँखियाँ भईं बरन ज्यौं गुंजैं ॥१००॥

देखियति कालिंदी अति कारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई विरह-जुर-जारी।
मनु पलिका तैं परी धरनि धुकि, तरँग तलफ तन भारी।
तट बारू उपचार-चूर, जल मनौ प्रसेद-पनारी।
बिगलित कच कुस-कास पुलिन पर, पंक जु कज्जल सारी।
भँवर मनौ तहँ भ्रमत फिरत अति, दिसि दिसि दीन दुखारी।

निसि दिन चकई वादि वकत अति, फेन मनौ अनुहारी।
सूरदास-प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी ॥१०१॥

ऊधौ मन नहिँ हाथ हमारे।
रथ चढ़ाइ हरि संग गए लै, मथुरा जवहिँ सिधारे।
नातरु कहा जोग हम छाँड़हिँ अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तौ झखतिँ स्याम की करनी मन लै जोग पठाए।
अजहूँ मन अपनौ हम पावैँ तुम तैँ होइ तौ होइ।
सूर सपथ हमैँ कोटि तिहारी कही करैँगी सोइ॥१०२॥

नाथ अनाथनि की सुधि लीजै।
गोपी, गाय, ग्वाल, गो-सुत सब दीन मलीन दिनहिँ दिन छीजै।
नैननि जल-धारा बाढ़ी अति बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै।
इतनी विनती सुनहु हमारी वारकहूँ पतियाँ लिखि दीजै।
चरन-कमल-दरसन नव-नौका करुना-सिंधु जगत जस लीजै।
सूरदास, प्रभु आस मिलन की एक वार आवन ब्रज कीजै ॥१०३॥

मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह-वियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यौँ न जरे।
मोहन वेनु वजावत द्रुम-तर साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि गन ध्यान टरे।
वह चितवनि तू मन न धरत है फिरि फिरि पुहुप धरे।
सूरदास प्रभु विरह-दवानल नख-सिख लौँ पसरे ॥१०४॥

वारक जाइयौ मिलि माधौ।
को जानै कब छूटि जाइगौ स्वाँस रहै जिय साधौ।
पहुनेहु नंद बबा के आवहु, देखि लेहुँ पल आधौ।
मिल ही मैँ विपरीत करी विधि, होत दरस कौ बाधौ।
सो सुख सिव सनकादि न पावत, जो सुख गोपिन लाधौ।
सूरदास राधा विलपति है, हरि कौ रूप अगाधौ ॥१०५॥

सखी इन नैननि तैँ घन हारे।
बिनु ही रितु बरसत निसि-बासर सदा सजल दोउ तारे।
ऊरध स्वास समीर तेज अति सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन मैँ बसे बचन खग रितु पावस के मारे।
ढरि ढरि बूँद परत कंचुकि पर मिलि अंजन सौँ कारे।
मानहुँ सिव की परन-कुटी बिच धारा स्याम निनारे।
सुमिरि सुमिरि गरजत अरु छाँड़त असु-सलिल बहुधारे।
बूड़त ब्रजहिँ सूर को राखै बिनु गिरिवर-धर प्यारे ॥१०६॥

अति रस-लंपट मेरे नैन।
तृप्ति न मानत पियत कमल-मुक-सुंदरता-मधु-ऐन।
दिन अरु रैनि दृष्टि-रसना-रस निमिख न मानत चैन।
सोभा-सिंधु समाइ कहाँ लौँ हृदय-साँकरे-ऐन।
अब वह विरह-अजीरन है कै बमि लाग्यौ दुख दैन।
सूर बैद ब्रजनाथ मधुपुरी काहि पठाऊँ लैन ॥१०७॥

निसि-दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस-रितु हमपैँ जब तैँ स्याम सिधारे।
दृग अंजन न रहत निसि-बासर कर कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिँ कबहूँ उर बिच बहत पनारे।
ऐसैँ सिथिल सबै भइ काया पल न जात रिस टारे।
सूरदास प्रभु यही परेखौ गोकुल काहेँ बिसारे ॥१०८॥

अँखियाँ करति हैँ अति आरि।
सुंदर स्याम पाहुने के मिस मिल न जाहु दिन चारि।
बाहँ थकी बायसहिँ उड़ावत कब देखौँ उनहारि।
राधा स्याम स्याम करि टेरति कालिंदी कैँ करार।
कमल-बदन ऊपर दुइ खंजन मानौ बूड़त बारि।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु सकैँ न पंख पसारि ॥१०९॥

नैन बिरह की बेलि बई।
सीँचत नैन-नीर के सजनी, मूल पताल गई।
बिकसत लता सुभाय आपने छाया सघन भई।
अब कैसेँ निरवारौँ सजनी सब तन पसरि छई।
को जानै काहू के जिय की छिन छिन होत नई।
सूरदास स्वामी के बिछुरे लागी प्रेम झई ॥११०॥

उपमा नैननि एक रही।
कबिजन कहत कहत चलि आए सुधि करि नाहिँ कही।
कहे चकोर, मुख-बिधु बिनु जीवत, भ्रमर नहीँ उड़ि जात।

हरि-मुख-कमल-कोस बिछुरे तैं, ठाले कत ठहरात।
आए बधन ब्याध ह्वै ऊधौ, जो मृग, क्यौं न पलात।
भाजि जाहिँ बन सघन स्याम मैं जहाँ न कोऊ घात।
खंजन मनरंजन न होहिँ ये कबहूँ नहिँ अकुलात।
पंख पसारि न होत चपल गति हरि समीप मुकुलात।
प्रेमि न होहिँ, कवन बिधि, कहिए, झूठे ही तन आड़त।
सूरदास मीनता कछू इक जल भर संग न छाँड़त ॥११॥

ब्रज बसि काकेबोल सहौँ।
इन लोभी नैननि के कारन परबस भई जु रहौँ।
बिसरि लाज गइ, सुधि नहिँ तन की, अब धौँ कहा कहौँ।
मेरे जिय मैं ऐसी आवत जमुना जाइ बहौँ।
इक बन ढूँढ़ि सकल बन ढूँढ़्यौ कतहुँ न स्याम लहौँ।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौँ यह दुख अधिक सहौँ ॥११२॥

बहुर्‌यौ भूलि न आँखि लगी।
सुपनेहूँ के सुख न सकी सहि, नीँद जगाइ भगी।
बहुत प्रकार निमेष लगाए छूटि नहीँ सठगी।
जनु हीरा हरि लियौ हाथ तैं ढोल बजाइ ठगी।
कर मीड़ति, पछिताति, बिचारति इहिँ बिधि निसा जगी।
वह मूरति, वह सुख दिखरावै सोई सूर सगी ॥११३॥

हमकौँ सुपनेहू मैं सोच।
जा दिन तैं बिछुरे नँदनंदन यह ता दिन तैं पोच।

मनु गोपाल आए मेरैं गृह, हँस करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भइ निद्रा निमिष न और रही।
ज्यौं चकई प्रतिबिंब देखि कै आनंदै पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर विधाता, चपल कियौ जल आनि॥११४॥

प्रीति करि काहूँ सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सौं, आपै देह दह्यौ।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सौं, संपुट माँझ गह्यौ।
सारँग प्रीति करी जो नाद सौं, सनमुख बान सह्यौ।
हम जो प्रीति करी माधौ सौं, चलत न कछू कह्यौ।
सूरदास-प्रभु बिनु दुख पावतिं, नैननि नीर बह्यौ॥११५॥

प्रीति तौ मरिबौहू न बिचारै।
प्रीति पतंग ज्योति-पावक ज्यौं जरत न आपु सँभारै।
प्रीति नाद सारँग मन मोह्यौ, प्रगट पारधी मारै।
प्रीति परेवा उड़त गगन तें, गिरत न आपु सँभारै।
सावन मास पपीहा बोलत पिय पिय करि जु पुकारै।
सूरदास-प्रभु-दरसन कारन ऐसी भाँति बिचारै॥११६॥

पिय बिनु नागिनि कारी राति।
कबहुँक जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जाति।
जंत्रन फुरत मंत्र नहि लागत, आयु सिरानी जाति।
सूर, स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि मुरि लहरैं खाति॥११७॥

देखिअत चहुँ दिसि तैं घन घोरे।
मानो मत्त मदन के हथियनि वल करि वंधन तोरे।
स्याम सुभग-तनु चुअत गंड-मद, वरपत थोरे थोरे।
रुकत न पवन महावतहू तैं, मुरत न अंकुस मोरे।
विनु वेला जल निकसि नयन तैं कुच कंचुकि वँध वोरे।
मनौ निकसि वगपाँति दाँत उर अवधि सरोवर फोरे।
तव तिहिँ समय आनि ऐरापति व्रजपति सौं कर जोरे।
अव सुनि सूर स्याम-केहरि विनु गरत गात जैसें ओरे ॥११८॥

सिखिनि सिखर चढ़ि टेरि सुनायौ।
विरहिनि सावधान ह्वै रहियौ सजि पावस दल आयौ।
नव वादर वानैत पवन ताजी चढ़ि चुटकि दिखायौ।
चमकत वीजु सेल कर मंडित, गरज निसान वजायौ।
चक, चातक अरु मोर चकोरनि सव मिलि मारू गायौ।
मदन सुभट कर वान पंच लै व्रजतन सन्मुख धायौ।
जानि विदेस नंदनंदन कौं अवलनि त्रास दिखायौ।
सूर स्याम पहिलैं गुन सुमिरत प्रान जात विरमायौ ॥११९॥

हमारे माई मोरउ वैर परे।
घन गरजैं वरजैं नहिँ मानत त्यौं त्यौं रटत खरे।
करि इक ठौर वीनि इनके पंख मोहन सीस धरे।
याही तैं विरहिनि कौं मारत हरि हीँ ढीठ करे।

को जानै काहे तैं सजनी हमसौं रहत अरे।
सूरदास परदेस बसे हरि ये ब्रज तैं न टरे ॥१२०॥

बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारौ।
बासर-रैनि नावँ लै बोलत भयौ विरह-जुर कारौ।
आपु दुखित पर दुखित जानि जिय चातक नाम तिहारौ।
देखौ सकल बिचारि सखी! जिय बिछुरन कौ दुख न्यारौ।
जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम-बान अनियारौ।
सूरदास प्रभु स्वाति-बूँद लगि तज्यौ सिंधु करि खारौ ॥१२१॥

अब इहिँ तनहिँ राखि का कीजै।
सुनु री सखी स्यामसुंदर बिनु बाँटि बिसम बिष पीजै।
कै गिरिए गिरि चढ़ि, कै सजनी सीस संकरहिँ दीजै।
कै दहिए दारुन दावानल, जाइ जमुन धँसि लीजै।
दुसह बियोग-बिरह माधव कैं कौन दिनहि दिन छीजै।
सूर स्याम-प्रीतम बिनु राधे सोचि मनहिँ मन खीजै ॥१२२॥

ऊधौ इतनौ कहियौ जाइ।
आवैंगे हम दोऊ भैया मैया जनि अकुलाइ।
याकौ बिलगु बहुत हम मान्यौ जो कहि पठयौ धाइ।
वह गुन हमकौं कहा बिसरिहै बड़ौ कियौ पय प्याइ।
अरु जब मिल्यौ नंद बाबा सौं तब कहियौ समुझाइ।
दोऊ दुखी होन नहिँ पावैं धौरी धूसरि गाइ।

जद्यपि मथुरा विभव बहुत है, तुम बिनु कछु न सुहाइ।
सूरदास ब्रजवासी लोगनि भेंटत हियौ जुड़ाइ ॥१२३॥

कोउ ब्रज बाँचत नाहिँ न पाती।
कत लिखि लिखि पठवत नँदनंदन कठिन विरह की काँती।
नैन सजल कागद अति कोमल कर अँगुरी अति ताती।
परसैँ जरैँ बिलोकैँ भीँजै दुहूँ भाँति दुख छाती।
को बाँचै ये अंक सूर सुनि कठिन मदन-सर घाती।
सब सुख लै गए स्याम मनोहर हमकौं दुख दै थाती ॥१२४॥

रहु रे मधुकर मधु मतवारे।
कहा करौं निरगुन लैकै हौं जीवहु कान्ह हमारे।
लोटत नीच पराग पंक मैं पचत न आपु सम्हारे।
बारंबार सरक मदिरा कौ अपरस कहा उघारे।
तुम जानत हमहूँ वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सबकौं बिलमावत जेते आवत कारे।
सुंदर स्याम-कमल-दल-लोचन जसुमति नंददुलारे।
सूरस्याम कौं सरबस अरप्यौ, का पै लेहिँ उधारे ॥१२५॥

ऊधौ होहु इहाँ तैं न्यारे।
तुमहिँ देखि तन अधिक तपत है अरु नयननि के तारे।
अपनौ जोग सैँति किन राखत इहाँ देत कत डारे।
तुम्हरे हित अपने मुख करिहैं मीठे तैं नहिँ खारे।

हम गिरिधर के नाम गुननि बस और काहि उर धारे।
सूरदास हम सबै एकमत तुम सब खोटे कारे ॥१२६॥

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप-रस-राँची ये बतियाँ सुनि रूखी।
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब ये तौ नहिं झूखी।
अब इन जोग-सँदेसनि ऊधौ अति अकुलानी दूखी।
बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पिवत पतूखी।
सूर जोग जनि नाव चलावहु ये सरिता हैं सूखी ॥१२७॥

नैननि नंदनंदन ध्यान।
तहाँ यह उपदेस दीजै जहाँ निरगुन ग्यान।
पानि-पल्लव-रेख गुनि गुनि अवधि बिबिध बिधान।
इते पर इन कटुक बचननि क्यौं रहत तन प्रान।
चंद्र कोटि प्रकास मुख अवतंस कोटिक भान।
कोटि मनमथ वारि छवि पर निरखि दीजत दान।
भ्रकुटि कोटि कोदंड रुचि अवलोकननि संधान।
कोटि बारिज बंक नयन-कटाच्छ कोटिक बान।
कंबु-ग्रीवा रत्न-हार उदार उर मनि जान।
जानु-बाहु उदार अति कर-पद्म सुधा-निधान।
स्याम तन पट पीत की छवि करै कौन बखान।
मनहु निरतत नील घन मैं तड़ित देती भान।

रास-रसिक गुपाल मिलि मधु अधर करतीं पान।
सुर ऐसे रूप बिनु को होइ इच्छुक आन ॥१२८॥

ऊधौ क्यौं राखौं ये नैन।
सुमिरि सुमिरि गुन अधिक तपत हैं सुनत तुम्हारे बैन।
चे जु मनोहर बदन-इंदु के सारद कुमुद चकोर।
परम तृषारत सजल स्याम-घन-तन के चातक मोर।
मधुप मराल चरन-पंकज के गति-बिलास-जल मीन।
चक्रवाक दुति-मनि-दिनकर के मृग मुरली आधीन।
सकल लोक सूनौ लागत है बिनु देखैं वह रूप।
सूरदास-प्रभु नंदनँदन के नख-सिख अंग अनूप ॥१२९॥

और सकल अंगनि तैं ऊधौ अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहिं पिराति सिराति न कबहूँ बहुत जतन करि हारी।
चितवत रहति निमेष न लावति बिथा-बिकल भइ भारी।
भरि गईं बिरह बाइ माधौ के इकटक रहति उघारी।
सुनि अलि अब ये ग्यान सलाकहिं क्यौं सहि सकहिं तुम्हारी।
सूर सुअंजन आँजि रूप-रस आरति हरौ हमारी ॥१३०॥

नैना नाहिं नैं (ये) रहत।
जदपि मधुप तुम नंदनँदन कौं निपटहिं निकट कहत।
हृदय माँझ जो हरिहिं बतावत सोखौ नाहिं गहत।
परी जो प्रकृति प्रगट दरसन की देखोइ रूप चहत।

यह निरगुन उपदेश तिहारौ स्रवनहु नाहिँ सहत।
सूरदास-प्रभु विनु अवलोकेँ सुख कोऊ न लहत ॥१३१॥

ऊधौ ब्रज की दसा बिचारौ।
ता पाछेँ यह सिद्धि आपनी जोग-कथा विस्तारौ।
जा कारन पठए तुम माधौ सो सोचहु मन माहीँ।
केतिक बीच बिरह परमारथ जानत हौ किधौँ नाहीँ।
तुम परवीन चतुर कहियत हौ संतत निकट रहत हौ।
जल बूड़त अवलंब फेन कौ फिरि फिरि कहा गहत हौ।
वह मुसुकानि मनोहर चितवनि कैसैँ मन तैँ टारौँ।
जोग जुगति अरु मुकुति परम निधि वा मुरली पर वारौँ।
जिहिँ उर बसे स्यामसुंदर घन क्यौँ निरगुन कहि आवै।
सूरदास सो भजन वहाऊँ जाहि दूसरो भावै ॥१३२॥

निरगुन कौन देस कौ बासी।
मधुकर कहि समुझाइ सौँह दै बूझति साँच न हाँसी।
को है जनक जननि को कहियत कौन नारि को दासी।
कैसो बरन भेप है कैसो केहि रस मैँ अभिलाषी।
पावैगौ पुनि कियौ आपनौ जो रे कहैगौ गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठगौ सौ सूर सबै मति नासी ॥१३३॥

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्यौपार तिहारौ ऊधौ ऐसैँ हीँ फिरि जैहै।
जापै लै आए हौ मधुकर ताकैँ उर न समैहै।

दाख डारि कै कटुक निबौरी को अपनैं मुख खैहै।
मूरी के पातनि के क्वैना को मुक्ताहल दैहै।
गुन करि मोहे सूर साँवरे को निरगुन निरवैहै ॥१३४॥

फिरि फिरि कहा सिखावत बात।
प्रातकाल उठि देखत ऊधौ घर घर माखन खात।
जाकी बात कहत हौ हमसौं सो है हमतैं दूरि।
इहँ हैं निकट जसोदा-नंदन प्रान-सजीवनि मूरि।
बालक संग लिए दधि चोरत खात खवावत डोलत।
सूर सीस नीचैं कत नावत अब काहैं नहिँ बोलत ॥१३५॥

ऊधौ मन नाहीं दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग को अवराधै ईस।
सिथिल भईं सबही माधौ बिनु जथा देह बिनु सीस।
स्वासा अटकि रही आसा लगि जीवहिँ कोटि बरीस।
तुम तौ सखा स्यामसुंदर के सकल जोग के ईस।
सूरदास रसिक की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस ॥१३६॥

मन मैं रह्यौ नाहिँन ठौर।
नंदनंदन अछत कैसैं आनियै उर और।
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत राति।
हृदय तैं वह स्याम मूरति छिन न इत उत जाति।
कहत कथा अनेक ऊधौ लोक लाभ दिखाइ।
कह करौं मन प्रेमपूरन घट न सिंधु समाइ।

स्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास ।
सूर इनके दरस कारन मरत लोचन प्यास ॥१३७॥

मधुकर स्याम हमारे चोर ।
मन हरि लियौ तनक चितवनि मैं चपल नयन की कोर ।
पकरे हुते आनि उर अंतर प्रेम प्रीति कैं जोर ।
गए छँड़ाइ तोरि सब बंधन दै गए हँसनि अकोर ।
चौंकि परी जागन निसि बीती तारनि गिनते भोर ।
सूरदास-प्रभु सरवस लूट्यौ नागर नवल किसोर ॥१३८॥

ऊधौ भली करी अब आए ।
बिधि कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाए ।
रंग दियौ हो कान्ह साँवरे अँग अँग चित्र बनाए ।
गलन न पाए नैन नीर तैं अवधि अटा जो छाए ।
ब्रज करि अवाँ जोग करि ईंधन सुरति अगिनि सुलगाए ।
सोक उसास बिरह परजारनि दरसन आस फिराए ।
भए सँपूरन भरे प्रेम-जल छुवन न काहू पाए ।
राज-काज तैं गए सूर सुनि नंदनँदन कर लाए ॥१३९॥

अलि तुम जोग बिसरि जिनि जाहु ।
बाँधौ गाँठि छूटि परिहै पहुँ बहुरि उहाँ पछिताहु ।
ऐसी बस्तु अनूपम मधुकर मरम न जानैं और ।
ब्रजबनिता के नाहिं काम की है तुम्हरे पै ठौर ।

जो हितु करि पठए नँदनंदन सो हम तुमकौं दीन्यौ।
सूरदास ज्यौं विप्र नारियर कर तैं चंदन कीन्यौ ॥१४०॥

ऊधौ हम लायक सिख दीजे।
यह उपदेस अगिनि तैं तातौ कहौ कौन विधि कीजे।
तुमहीं कहौ इहाँ इतननि मैं सीखनहारी को है।
जोगी जती रहित माया तैं तिनहीं यह मति सोहै।
कहा सुनत विपरीत लोक मैं यह सब कोई कैहै।
देखौ धौं अपनें मन सब कोइ तुमहीं दूषन दैहै।
चंदन अगरु सुगंध जे लेपत का विभूति तन छाजै।
सूर कहौ सोभा क्यौं पावै आँखि आँधरी आँजे ॥१४१॥

बिनु माधौ राधा तन सजनी सब विपरीत भई।
गई छपाइ छपाकर की छवि रही कलंक मई।
लोचनहू तैं सरद सार सी सु छवि निचोरि लई।
आँच लगैं च्यौनौ सोनौ ज्यौं त्यौं तनु धातु हई।
कदली दल सी पीठि मनोहर सो जनु उलटि गई।
संपति सब हरि हरी सूर-प्रभु विपदा दई दई ॥१४२॥

हमरैं कौन जोग व्रत साधै।
मृग त्वच भस्म अधारि जटा कौं को इतनौ अवराधै।
जाकी कहूँ थाह नहिँ पैयत अगम अपार अगाधै।
गिरिधर लाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै।

सुनि मधुकर जिनि सरवस चाख्यौ क्यौँ सचु पावत आधैँ।
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै ॥१४३॥

कहा लै कीजै बहुत बड़ाई।
अति अगाध स्रुति-बचन अगोचर मनसा तहाँ न जाई।
रूप न रेख बरन बपु जाकैँ संग न सखा सहाई।
ता निरगुन सौँ प्रीति निरंतर क्यौँ निबहै री माई।
जल बिनु तरँग चित्र बिनु भीतिहिँ बिनु चित हीं चतुराई।
अब ब्रज मैँ नइ रीति कछू यह ऊधौ आनि चलाई।
मन चुभि रह्यौ माधुरी मूरति रोम रोम अरुझाई।
स्याम सुभग तन सुंदर लोचन निरखि सूर बलि जाई ॥१४४॥

अपने स्वारथ के सब कोऊ।
चुप करि रहौ मधुप रस-लंपट तुम देखे अरु ओऊ।
औरौ कछू सँदेस कह्यौ है कहि निबरौ किन सोउ।
लीन्हे फिरत जोग जुवतिनि कौँ बड़े सयाने दोऊ।
तौ कत रास रच्यौ बृंदावन जौ पै ज्ञान हुतोऊ।
अब हमरैँ जिय बैठौ यह पद होनी होउ सो होऊ।
छुटि गयौ मान परेखौ रे अलि! हृदय हुतौ वह जोऊ।
सूरदास-प्रभु गोकुलनायक चित चिंता अब खोऊ ॥१४५॥

मधुकर जानत है सब कोऊ।
जैसे तुम अरु सखा तुम्हारे गुननि भरे हौ दोऊ।

पाके चोर हृदय के कपटी तुम कारे अरु ओऊ।
सरवस हरन करत अपनैं सुख कैसेहू किन होऊ।
परम कृपिन थोरे धन जीवन उवरत नाहिँ न सोऊ।
सूर सनेह करै जो तुमसौं सो पुनि आपु विगोऊ ॥१४६॥

ऊधौ मन माने की वात।
दाख-छोहारा छाड़ि अमृत-फल विप-कीरा विप खात।
जो चकोर कौं देइ कपूर कोउ तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ मैं वँधत कमल के पात।
ज्यौं पतंग हित जानि आपनौ दीपक सौं लपटात।
सूरदास जाकौ जासौं हित सोई ताहि सुहात ॥१४७॥

ऊधौ जो तुम हमहिँ सुनायौ।
सो हम निपट कठिनई हठ कै या मन कौं समुझायौ।
जुगुति जतन करि जीति अगह गहि जोग-पंथ लौं ल्यायौ।
भटकि फिर्‍यौ वोहित के खग ज्यौं फिरि हरि ही पैं आयौ।
हमकौं सवै अहित लागतु है तुम अति हितहिँ वतायौ।
सुर-सरिता-जल होम किए तैं कहा अगिनि सचु पायौ।
अव ऐसौ उपाय उपदेसौ जिहिँ जिय जात जिआयौ।
वारक मिलैं सूर के प्रभु पुनि करौ आपनौ भायौ ॥१४८॥

ऊधौ इतनी कहियौ जाइ।
अति कृसगात भईं ये तुम विनु परम दुखारी गाइ।

जल-समूह बरषति दोउ आँखिनि हूँकति लीने नाउँ ।
जहाँ जहाँ गो-दूहन कीने सूँघति सोई ठाउँ ।
परति पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन ।
मानहु सूर काढ़ि डारी है वारि मध्य तैं मीन ॥१४९॥

अब अति चकितवंत मन मेरौ ।
आयौ हो निरगुन उपदेसन भयौ सगुन कौ चेरौ ।
जो मैं कह्यौ ज्ञान गीता कौ तुमहिं न परस्यौ नेरौ ।
अति अज्ञान न कछु कहि आयौ दूत भयौं हरि केरौ ।
निज जन जानि मानि जननी तुम कीजौ नेह घनेरौ ।
सूर मधुप उठि चल्यौ मधुपुरी बोरि जोग कौ बेरौ ॥१५०॥

ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं ।
हंस-सुता की सुंदर कगरी अरु कुंजनि की छाहीं ।
वे सुरभो, वे वच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं ।
ग्वाल-बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं ।
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुकताहल जाहीं ।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं ।
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा नंद निबाहीं ।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै यह कहि कहि पछिताहीं ॥१५१॥

टिप्पणी

पद १—इस पद में कवि निर्गुण ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहकर सगुणोपासना करने—'सगुन-पद' गाने—की अपनी इच्छा प्रकट करता है। इससे यह न समझना चाहिए कि वह निर्गुण-उपासना का विरोध करता है अथवा उसे तात्त्विक नहीं मानता। हिंदू शास्त्रों का कोई भी पंडित ऐसे विचार नहीं प्रकट कर सकता। वह तो सगुण और निर्गुण दोनों को समान महत्त्व देगा। 'अगुन-सगुन दुइ ब्रह्म-सरूपा; अकथ, अगाध, अनादि, अनूपा' यह गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं। महात्मा सूरदास के इस पद में भी निर्गुण के विचार को 'परम स्वाद' और 'अमित तोष' उत्पन्न करनेवाला स्वीकार किया गया है पर वह स्वाद और वह तोष गूँगे के गुड़ की भाँति मन में ही आस्वाद्य और प्राप्य है। जो उसे पाता है वही जानता है, औरों के लिये वह 'सब विधि अगम' है। गीता कहती है—"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्ता-सक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देवद्भिरवाप्यते।" जो देहवान् हैं उनसे अव्यक्त की उपासना कठिनाई से हो सकती है।

'सब विधि अगम बिचारहिँ तातैँ सूर सगुन-पद गावै' इस पंक्ति को कवि की ग्रंथारंभ की प्रतिज्ञा समझना चाहिए। प्रायः सभी कवि कोई न कोई प्रतिज्ञा करते हैं। मि०—

कीन्ह चहौं रघुपति गुनगाहा; लघु मति मोरि, चरित अवगाहा।

—तुलसीदास।

अविगत = जो जाना न जाय; अज्ञात; अनिर्वचनीय। अंतर-गतहीँ = अंतःकरण में ही; भीतर ही। रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालंब कित धावै। —सूरदास। मि०—व्यापक एक ब्रह्म अविनासी; सत चेतन घन आनँद रासी। अस प्रभु हृदय अछत अविकारी; सकल

जीव जग दीन दुखारी ।—तुलसीदास। भरि लोचन विलोकि अवधेसा; तब सुनिहौं निरगुन उपदेसा ।—रामचरित-मानस।

पद २—यहाँ सगुण भगवान् का लोक-रक्षक स्वरूप दिखाया जा रहा है। साधुओं के परित्राण के लिये उन्हें अवतार लेते ही बन पड़ता है। यद्यपि वे अजन्मा, अव्ययात्मा, संपूर्ण भूतों का नियमन करनेवाले ईश्वर हैं, तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति (माया) को अपने वश में करके अपनी लीला से शरीरधारी की भाँति जन्म लेने के सदृश प्रकट होते हैं। क्या ही चमत्कार है कि जो माया जीवों के बंधन की हेतु है वही भगवान् के अवतार में मुक्ति का कारण बन जाती है। परंतु यह सब प्रकार से सत्य और संभव है क्योंकि उनका लीलामय जन्म और साधु-रक्षण आदि कर्म दिव्य हैं अर्थात् अलौकिक हैं। 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'—गीता। अवतार के संबंध में गीता-वाक्य है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।

इन अवतार-रूप भगवान् के किसी भी आचरण की समीक्षा हम अपने लौकिक आचरण की कसौटी पर नहीं कर सकते क्योंकि उनका जन्म और कर्म दिव्य है और हमारा माया में लिप्त। पश्चिम की शिक्षा के प्रभाव से भगवान् कृष्ण के लोकोत्तर चरित पर जो टीका-टिप्पणी होने लगी है और उसका जिस प्रकार उत्तर दिया जाने लगा है, दोनों ही यहाँ की प्राचीन दर्शनपरंपरा के विरुद्ध हैं।

चक्र सुदरसन—सुदर्शन विष्णु भगवान् के चक्र का नाम है। यही उनका लोक-रक्षक और भक्त-भय भंजक अस्त्र है। इससे न केवल वे साधु जनों की वरन् साधु लोक-विधियों की भी रक्षा करते हैं—जैसा अंबरीष के प्रसंग में।

अंबरीष—प्राचीन अयोध्या का एक परम वैष्णव राजा जिसने विधिपूर्वक एकादशी का व्रत किया था। एक बार ऐसी एकादशी पड़ी

कि यदि प्रातःकाल पारण न किया जाता तो त्रयोदशी लग जाती। नियम यह है कि पारण द्वादशी में ही होना चाहिए। अतः अंबरीष ने एकादशी के और द्वादशी में विष्णु भगवान् के चरणोदक से पारण किया, उपरांत ऋषि दुर्वासा को ब्राह्मण-भोजन के लिये आमंत्रित करने गए। दुर्वासा को यह असत्कार विदित हुआ जिससे अंबरीष पर उनका क्रोध चढ़ा। परंतु अंबरीष ने तो लोकविधि का पालन ही किया था। अतः भगवान् के सुदर्शन चक्र को अंबरीष की रक्षा के लिये आना पड़ा और अंत में दुर्वासा को क्षमा माँगनी पड़ी।

गोवर्धन—प्राचीन व्रज का एक पर्वत जिसको श्री कृष्ण ने इंद्र के कोप से व्रजवासियों की रक्षा करने के लिये अपनी अँगुली पर धारण किया था।

कृपा करी प्रह्लाद...................नखनि विदार्यौ—प्रह्लाद और उसके अत्याचारी पिता की कथा बहुत प्रसिद्ध है। भगवान् ने नृसिंह रूप धारण कर अपने भक्त का त्राण किया था।

ग्राह ग्रसत गज......टार्यौ—गज-ग्राह की कथा भागवत में आई है। मदमत्त गज जल-विहार के लिये गया था। ग्राह से उसकी वहाँ सहस्रों वर्ष तक लड़ाई होती रही—ऐसा लिखा है। अंत में जब गज का बल थक गया तब उसने भगवान् की स्तुति की। गरुड़ की सवारी पर आने से देर होती इसलिए भगवान् ने नंगे पैरों ही दौड़कर उसे उबारा।

कंस पछार्यौ—कंस को पछाड़ा। कृष्णावतार का एक मुख्य आशय कंस-वध कहा गया है। इस अत्याचारी राजा के कारण प्रजा बहुत ही त्रस्त थी। कृष्ण के पिता वसुदेव और माता देवकी भी कंस के कारागृह में बंदी थी। उसी कारागृह में कृष्ण का जन्म हुआ था परंतु वे तो रात ही रात वहाँ से निकालकर यमुना पार पहुँचा दिए गए थे। बड़े होने पर कृष्ण ने कंस का वध किया।

पद ३—संसार में जो कुछ काम्य विभूतियाँ हैं वे सब ईश्वर की दया से ही प्राप्त होती हैं। दुनिया की दृष्टि में जो नीच से नीच हैं वे भी भगवान् की कृपा से उन्नत पद पर पहुँच जाते हैं, और जो संसार में सुंदर और श्रेष्ठ समझे जाते हैं वे भी ईश्वरेच्छा से कष्ट पाते हैं। विभीषण, सुदामा, अजामिल और कुब्जा ये सभी हेय थे किंतु ईश्वर के अनुग्रह से श्रेय हो गए और रावण, नारद, सीता, शंकर आदि जो महाऐश्वर्यशाली, पुण्यवान् और साधु थे, वे कष्ट के भागी हुए।

यह नहीं कहा जा सकता कि सबकी गति अपने अपने कर्म पर ही निर्भर है क्योंकि सीता और शंकर के कर्म अशुभ नहीं थे, तथापि उन्हें यातना सहनी पड़ी। अजामिल जैसे पापी पर भी 'दीनानाथ ढरे' थे; अतः लौकिक कर्म, गुण, स्वभाव आदि के परे और उनसे भी प्रबल ईश्वर की इच्छा है जिसका रहस्य कोई नहीं जान सकता। यही इस पद में प्रदर्शित किया गया है।

ढरे = अनुकूल हो; प्रसन्न हो। सोइ कुलीन = वही उत्तम वंश का है। जन्म से अथवा कर्म से कुलीनता-अकुलीनता माननेवाले दोनों ही दलों का दलन हो जाता है। सामाजिक कायदा-कानून अथवा क्रिया-कर्म इन संतों की दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं रखते थे। मि॰—

जाति-पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई।

गर्वहि-गर्व-गरै = अहंकारी का अहंकार (घमंड) निचोड़ लिया गया; छीन लिया गया।

अजामील—प्राचीन कन्नौज का एक दासीपति ब्राह्मण जो मृत्यु-पर्यंत निंदित कर्म करता रहा। परंतु उसने अपने सबसे छोटे दसवें पुत्र का नाम नारायण रखा था जिसे वह बहुत प्यार करता था। मरते समय भी अजामिल ने अपने पुत्र नारायण का स्मरण किया। भगवान् के पार्षद उसे भगवान् का नाम स्मरण करते सुन उसकी मृत्युशय्या के निकट पहुँचे और यमराज की आज्ञा का पालन करनेवाले यमदूतों को उसे ले जाने से रोकने लगे। इस पर यम के दूतों और विष्णु के पार्षदों में

धर्म-विषय पर विवाद होने लगा। अंत में यमदूतों ने यह भागवत धर्म स्वीकार किया कि भगवान् के नाम के स्मरण मात्र से, चाहे वह जानकर या अनजान में ही किया जाय, प्राणी के सब पाप दूर होते हैं, यहाँ तक कि ब्रह्महत्या का महापातक भी नष्ट हो जाता है।

इसके उपरांत यमदूत अजामिल को छोड़कर चले गए और अजामिल ने अपने जीवन का शेष अंश गंगा तट पर भगवद्भजन में व्यतीत किया। फिर उसे वैकुंठ धाम मिला।

नारद—देवों के ऋषि नारद जो परम विरक्त होते हुए भी कभी स्थिर होकर नहीं बैठे।

कुब्जा—कूबरी जिस पर रीझकर श्रीकृष्ण सुंदरी गोपिकाओं को भी भूल गए थे।

ताकौं काम छरै—शिवजी को कामदेव ने छलना चाहा था। यह कथा पुराणों और काव्यों में भी आई है।

जठर जरै—जठराग्नि में जलता रहेगा; जन्म-मरण के दुःख भोगता रहेगा। मि०—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्। पुनरपि जननी-जठरे शयनम्।

—शंकराचार्य।

पद ४—'धाम-धन-वनिता' आदि की सबल माया में जकड़ा हुआ जीव मुक्ति का साधन जानता है, पर जानकर भी नहीं जानता, क्योंकि उसमें इतनी शक्ति नहीं कि वह अपना बंधन आप ही काट सके। इसलिये यदि उसे मुक्त होना है तो वह अपने को भगवान् के समर्पण कर दे। अहंकार को संपूर्णतः डुबा देने का यह उपक्रम इस पद में गीत है। ईश्वर की अपार बड़ाई के महासागर में जीव के गुण-अवगुण के छोटे छोटे कण कहाँ ढूँढ़े मिलेंगे!

बिरद—कीर्ति; बड़ाई। बाँध्यौ हौं = बँधा हुआ हूँ। "देखत-सुनत सबै जानत हौं तऊ न आयौ बाज।" मि०—

वाक्य-ज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोऊ। —विनयपत्रिका।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्।—उपनिषद्।

गरीब-निवाज = दीन-दयाल; परवरदिगार।

पद ५—भ्रांत धारणा और ध्यान में भटकते फिरने का परिणाम यही है कि मालूम तो यह होता है कि हमने बहुत कुछ किया पर वास्तव में होता कुछ भी नहीं। ईश्वर की कृपा किस भाँति प्राप्त होती है यह तो सत्य उपासना से ही समझ में आता है। भगवान् की व्यापक महिमा बिसारकर, उनके दर्शन के लिए जगह जगह की खाक छानते फिरने से तो कुछ लाभ नहीं होता। सगुण, निर्गुण; रूप; अरूप; नाम, अनाम के उभय स्वरूपों में परमात्मा को पहचानना चाहिए।

के ताईं = के लिये। बिसरी = विस्मरण हो गई; भूल गई।

गुन बिनु गुनी, सुरूप रूप बिन, नाम बिना श्री स्याम हरी।

—सूरदास।

मि०—अवलोके रघुपति बहुतेरे; सीता-सहित सुवेष घनेरे।
बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी; कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी।

—तुलसीदास।

पद ६—भगवान् का क्षमावान् रूप वैसा ही है जैसा माता का, जो बच्चे के सब अपराधों को क्षमा कर उसे अपनी कोख में रखती है और उत्पन्न होने पर हृदय से लगाती है। हाथ में कुठार लेकर मलय-वृक्ष पर आघात किया जाय तो भी वह अपनी स्वाभाविक सुगंधि और शीतलता से अपने शत्रु को वंचित नहीं करता। पृथ्वी को फोड़कर लोग उस पर से नाले निकालते और अपनी खेती सींचते हैं किंतु वह तो इस शीतोष्ण आपदा को सह लेती, बदले में सुफल फलती है। बेचारी जीभ दांतों के बीच दबी रहती है तो भी रोष नहीं करती, वरन् षड्रस व्यंजन का आस्वाद कराती है।

सुत अपराध करै—मा की कोख में रहकर बच्चा उसे पीड़ा ही पहुँचाता है। परंतु अज्ञान की दशा में ही वह ऐसा करता है। उसी

प्रकार जीव भी अज्ञानावस्था में जो कर्म करता है, ईश्वर उन्हें क्षमा कर देता है।

धर = धरा; पृथ्वी। सरन उबरे = शरण में पहुँचकर निस्तार पाता है।

पद ७—दुनियादारी में पड़कर मनुष्य चैतन्यशक्ति को खो देता है और यंत्र की तरह आचरण करने लगता है। अपने क्रिया-कलाप में वह इतना लिप्त रहता है कि वास्तविक जीवन का आनंद बिसार देता है। ईश्वर की भक्ति और साधुओं का समागम—जिनसे जीवनदायिनी-स्फूर्ति उत्पन्न होती है—उसके लिये नहीं रह जाते। नट कितनी ही कलाएँ दिखाता है (जिनसे दूसरों का मन प्रफुल्लित होता है) परंतु इनसे उसका लोभ नहीं छूटता। दुनिया के झगड़ों में इस प्रकार फँसा रहना वैसा ही है जैसे कोई स्त्री अपने पति को छोड़कर इधर-उधर मारी फिरे।

कर्म से मुक्ति नहीं है, कर्म-संन्यास से ही मुक्ति है। भगवान् शंकराचार्य के इस तात्त्विक निष्कर्ष की छाया सैकड़ों भक्तों के पदों में पाई जाती है और इस पद में भी है। मि०—

हरि माया कृत दोष गुन, बिनु हरि-भजन न जाहिँ।
भजिय राम सब काम तजि, अस विचारि मन माहिँ॥

—तुलसीदास।

पद ८—गीता के तेरहवें अध्याय में शरीर को क्षेत्र कहा गया है। जो इसके रहस्य को जानता है वह क्षेत्रज्ञ है। 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।' भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तू समस्त क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझ असंसारी परमेश्वर को ही जान। यही भाव सूर के इस पद में व्यक्त हुआ है। तेरा शरीर रूप क्षेत्र तभी उबरेगा (मुक्त होगा) जब तू उसमें हरि-भजन की बारी (वाटिका) लगावेगा। यह कार्य शीघ्र सचेत होकर कर ले क्योंकि जीवन क्षणस्थायी है और काल किसी का मोह नहीं करता।

पद ९—अनेक बार समझाने पर भी मन पाप की पीड़ा सहन करता है किन्तु ईश्वर-स्तुति का सुख नहीं समझता। वह विषयों

से ही मैत्री जोड़कर निर्वाह करता है, काँच के टुकड़ों को लेकर ही स्वर्ण मणि और अमूल्य रत्नों को फेंक देता है। वह ऐसा चतुर है कि दूध छोड़कर मट्ठा पीने में ही सुखी रहता है! संसार के समस्त अनुभवों का सार यह है कि भगवान् के भजन के बिना तीनों लोकों में दुःख ही दुःख है किंतु इस अनुभव को वह सुनना ही नहीं चाहता। मि०—

विनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग विनु।
गावहिं वेद-पुरान सुख कि लहिय हरि-भगति विनु॥

—रामचरित-मानस।

भगवंत-भजन—ईश्वर का भजन केवल राम राम रटने से ही नहीं होता। इस प्रकार की रटाई तो नट की कला की ही कोटि की है। हमारे देश के संतों और कवियों ने हरि-भजन का प्रयोग बड़े ही रमणीय अर्थ में किया है। वह रमणीयता समझ लेने पर संसारी विषयों का क्षणिक सुख सचमुच काँच के टुकड़ों से अधिक मूल्य नहीं रखता।

पद १०—विषयों का रस क्षणिक और तुच्छ नहीं तो क्या है? यह तो एक बहुत बड़ा धोखा है जो चारों ओर फैला हुआ है। पृथिवी की तप्त वायु को जल समझकर दौड़ने की मृग-तृष्णा में क्या सुख है? जन्म जन्म के कर्मों में उलझते रहने को जीवन नहीं कहते। शुक को यदि दिन-रात उस फल की ही आशा लगी रही जिससे अंत में सेमर का घूआ ही निकला तो किसकी तृप्ति हुई? दूसरे के अधीन—आशा के अधीन, तृष्णा के अधीन, क्षुधा के अधीन, विषयों के अधीन—रहने से तो बाजीगर के बंदर की भाँति द्वार द्वार नाचना ही हाथ लगेगा। तो फिर इसे छोड़कर स्थायी सुख की प्राप्ति के लिये भगवद्भजन क्यों न किया जाय?

इस पद से भगवद्भजन के तात्विक और मनोरम आशय का संकेत मिलता है, जो राम राम रटकर स्वर्ग की आशा में मुँह फैलाने के आशय से अवश्य ही भिन्न है। जो कुछ विषयों का सुख है वह

भगवद्भजन का सुख नहीं है, अतः भगवद्भजन का सुख निर्विषय है। विषयों को पार कर निर्विषय बनना, कर्म की माया से संन्यास ले लेना, यही भगवद्भजन का रूप समझना चाहिए। यंत्र की भाँति इधर से उधर चक्कर लगाते फिरने का मिथ्या सुख आजकल के दार्शनिकों की समझ में भी आने लगा है। यदि क्षणिक परिणामों के बदले स्थायी परिणाम पर दृष्टि रखी जाय तो सत्य ही संसार का सुख अवास्तविक प्रकट होगा। इसलिये हमारे संत-महात्मा इस अवास्तविकता से दूर रहने, भगवद्भजन द्वारा वास्तविक सुख की प्राप्ति करने का मंत्र देते रहे हैं।

डहकायौ = ठगा गया। गीध्यौ = इच्छुक हो गया; लालची हो गया; लिप्त हो गया। हरि हीरा घर माँझ गँवायौ = घर के भीतर ही हरि का हीरा खो दिया। यह बहुत बड़ी नादानी है कि हीरा घर के भीतर खो गया है, पर सबसे बड़ी नादानी यह है कि घर की खोई वस्तु को, जो इतनी अमूल्य है, हम ढूँढ़ने की चेष्टा नहीं करते। ताँवरो = ताप; जलन। चौहटें = चौक में; सबके सामने।

पद ११—तन्मयता की एक झलक है। शरीर के सभी अंग तभी सार्थक हैं जब वे अपने अपने विषयों का जंजाल छोड़कर एक ईश्वर की दिशा में तल्लीन हों। भिन्नता में तो दुःख है, एकता में आनंद है। इंद्रियाँ अपने भिन्न भिन्न स्वार्थों में फँसेंगी तो संघर्ष अवश्य ही होगा। जहाँ संघर्ष है वहाँ सुख कहाँ? वह व्यक्ति धन्य है जो इस संघर्ष से छुट्टी पा गया।

मकरंदहिं = फूलों के रस को। अधिकाई = बड़ाई। वृंदावन = कृष्ण भगवान् की लीलाभूमि।

पद १२—संसार से विराग उत्पन्न करने, कर्म से संन्यास ले लेने की प्रेरणा दो मुख्य उपायों से की जाती है। एक तो मृत्यु-समय का क्लेशप्रद दृश्य दिखाकर, दूसरा शरीर के वीभत्स रूप का परिचय देकर। भर्तृहरि के वैराग्यशतक में, विश्रामसागर में और भक्तों के अनेकानेक

पदों में शरीर को मल-मूत्र का आगार कहा गया है और मनुष्य को इस दुर्गंधि से दूर रहने, कामवासना में न फँसने की सलाह दी गई है। इसी प्रकार वृद्धावस्था और मृत्यु के कष्ट कहकर समय रहते होश में आने की चेतावनी भी दी गई है।

तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं = शरीर शोभाहीन हो जायगा। नीर = पानी; आब; इज्जत। सबारे = शीघ्र ही। जब मनुष्य मर जाता है तब उसे शीघ्रातिशीघ्र घर से निकालकर मरघट पहुँचा देने की प्रथा है। काढ़ो = निकालो। खोपरी बाँस दे = शरीर की जब दाहक्रिया हो जाती है तब बहुधा शिर की हड्डियाँ ज्यों की त्यों जुड़ी रह जाती हैं। तब उन्हें बाँस से फोड़कर अलग अलग कर दिया जाता है। संतनि में कछु पैहे = संतों से कुछ ऐसी वस्तु प्राप्त होगी जो अन्यथा नहीं प्राप्त हो सकती।

पद १३—चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहते है। साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने के पहले निरोध हो जाना चाहिए। महात्मा पतंजलि ने भी अष्टांगयोग में ध्यान, धारणा, समाधि के पहले यम, नियम आदि को ही मुख्य माना है। इसी आशय को संत कवियों ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि आंतरिक शुद्धि न होने से बाह्य उपचार सब व्यर्थ हो जाते हैं।

तीर्थों में जा जाकर स्नान किया, शास्त्रों का पाठ करके पंडित हो गए, प्राणायाम साधकर ऊर्ध्वरेता कहलाने लगे, अनेक प्रकार के यज्ञ, व्रत आदि किए, तो भी क्या लाभ है यदि मन पर अधिकार न कर सके! संसार की दृष्टि में हम इन उपायों द्वारा बड़े और शोभाशाली बन सकते हैं पर इससे पार नहीं लगेगा। बड़ाई और शोभा अपने मन की चाहिए। यदि वही नहीं मिली तो दुनिया की बड़ाई मिलकर क्या करेगी? वह तो सच्चे सुख के बदले दुःख ही अधिक देगी क्योंकि उस बड़ाई की पूर्ति के लिये तरह तरह की कवायद करते रहनी पड़ेगी।

परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि तीर्थ-स्थान, शास्त्र-पाठ, प्राणायाम आदि निषिद्ध कार्य हैं। ऐसा किसी साधु ने नहीं कहा और ऐसा समझना केवल बुद्धिभ्रम है।

तुस = भूसी; अन्न के ऊपर का बारीक आवरण। कछू न छूटै = कुछ भी मतलब हल नहीं होता। करनी और कहै कछु औरै—जो भीतर बाहर एक नहीं है। जिसका ज्ञान केवल प्रदर्शन के लिये है, आचरण के लिये नहीं। मन......टूटै = प्रलोभनों के वश में है; दसों इंद्रियों के अधिकार में है; किसी ओर से कोई शासन नहीं है। झर फूटै = वेग से प्रज्वलित हो।

पद १४—भगवान् की नीराजना (आरती) का एक विराट् दृश्य। बहुतों ने समझ रखा है कि सगुणोपासक संतों और महात्माओं के द्वारा केवल क्षुद्र जनों के गृहस्थ जीवन के अनुकूल छोटी छोटी भावनाएँ जागृत की गईं। विग्रह रूप में उपासना करने के कारण विराट् रूप और तत्सम विराट् चित्र उन्होंने नहीं उपस्थित किए। परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। कबीर जैसे निर्गुण-ज्ञानियों की भाँति सूर और तुलसी जैसे महात्माओं ने भी विराट् दृश्य दिखाए हैं। साहित्य और कलाओं में इन दोनों उपासना-पद्धतियों का किस रूप में प्रभाव पड़ा, यह तो विशेष सूक्ष्म विवेचन का विषय है जिसे हम थोड़ा-बहुत इस पुस्तक की, किंतु सम्यक् रीति से सूरसागर की भूमिका में उपस्थित कर रहे हैं। यहाँ केवल इतना समझना चाहिए कि सगुणोपासक भक्तों ने भी भगवान् की विराट् भावना की थी।

परति न गिरा गनी—वर्णन नहीं किया जा सकता। अध आसन = आरती-पात्र का नीचे का आधार-भाग। डाँड़ी सहसफनी = शेषनाग के सहस्र फन उस आरती-पात्र की डंडी हैं। मही सराव = पृथिवी दीया है जिसमें सप्तसागर का घृत और शैलों की बत्ती रखी हुई है। सराव = शराव; दीया। यह स्रुवा का भी विकृत रूप हो सकता है। मि०—

चाप स्रुवा सर आहुति जानू; कोप मोर अति घोर कृसानू।
समिधि सेन चतुरंग सुहाई; महा-महीप भए पसु आई।

—रामचरित-मानस।

भजनी = भजन करनेवाले।

पद १५—यहाँ से भगवान् कृष्ण की बाल-लीला आरंभ होती है। समझ लेना चाहिए कि अपनी संपूर्ण कलाओं के साथ उन्होंने अवतार ले लिया है और वे मनुष्यों की प्रीति के लिये लीलाएँ कर रहे हैं। कलाकोविद सूरदास ने इसके आगे कृष्ण का वर्णन एक परम मनोरम बालक के रूप में किया है जिससे सामान्य से सामान्य गृहीजन भी अलौकिक तृप्ति को करतलगत कर सकें। पश्चिम की जनता, जिसकी अवतारवाद पर आस्था नहीं है, बालक कृष्ण के स्वरूप पर मुग्ध हो सकती है। साहित्य के पंडित जन देख सकते हैं कि इन पदों से कला के रूप का कितना रमणीय निर्माण हो रहा है। सरल स्वाभाविक लोक-जीवन के चित्रपट पर कृष्ण का यह चित्र विशेष चमत्कार के साथ खींचा गया है। परंतु सूर का आशय इतना ही नहीं था, यह भी हम लोगों को ध्यान में रखना होगा। वह साधारण बालक नहीं है जो यशोदा की गोद में किलकारी भर रहा है, यमुना के करील-कुंजों में वंशी बजा रहा है, ब्रज की वीथी वीथी में आनंद लुटा रहा है। वह तो वही है जिसकी ऊपर के पदों में स्तुति की गई है, संसार के दुःख-मोचन के लिये जिसकी कृपा की भिक्षा माँगी गई है और जिसके अवतार ले लेने से सत्य ही यह लोक अलौकिक हो उठा है।

साहित्य-कला के ज्ञाता यह रहस्य समझ लेंगे कि सूर पग पग पर "भगवान् का वर्णन है, सगुण ब्रह्म का वर्णन है" की प्रतिज्ञा करने में लगकर रस-भंग नहीं कर सकते थे। परंतु अनेक पदों की अंतिम पंक्ति में अपने नाम के साथ कवि ने कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति प्रकट कर दी है। इससे व्यक्तिगत आत्म-निवेदन समझना चाहिए। जिन्हें

यह न रुचे वे इन अंतिम पंक्तियों को निकालकर इन पदों में आधुनिक-तम गीत काव्य का रस ले सकते हैं।

मल्हावै = चुमकारती है; पुचकारती है; प्यार करती है। जोइ सोइ = जिसका कुछ विशेष अर्थ नहीं है; ऐसे ही। मधुरै = धीरे धीरे।

पद १६—मनिराजन = मणियों की लड़ी। बासर-निसा बिचारति इ० = दिन-रात इस अलौकिक सुख पर विचार करती रहती हूँ जिसे मैंने कभी नहीं पाया था।

निगमनि-धन, सनकादिक-सरबस,……है री—इस पर पश्चिमीय साहित्य-समीक्षक आक्षेप कर सकते हैं कि कृष्ण यदि अवतार भी हों तो भी जब वे उत्पन्न हुए थे तभी से उनको यह पद नहीं मिल गया होगा। फिर एक छोटे से बच्चे को—यदि वह हो भी—निगमों का धन और ऋषियों का सर्वस्व कहना अच्छा नहीं लगता, इसमें बड़ी अस्वा-भाविकता होती है।

पहले आक्षेप के लिये तो यह कहा जा सकता है कि यह वर्णन ऐतिहासिक गाथा नहीं है, जिसमें समयानुक्रम का ध्यान रखना परम आवश्यक हो। यह तो एक अंधे भक्त की भावना है जिसने कृष्ण को पूर्ण परात्पर भगवान् समझने में लेशमात्र भी विकल्प नहीं किया था।

दूसरे आक्षेप के लिये यह कहा जायगा कि यह वर्णन जिस स्तर से किया जा रहा है उससे यह किंचित् भी अस्वाभाविक नहीं है। जो जिसे ऋषियों का सर्वस्व और निगमों का धन मानता है वह उसे वैसा ही न कहकर अपने ही साथ छल कैसे कर सकता है ?

जिस स्तर से यह वर्णन हो रहा है उसकी कुछ चर्चा भूमिका में मिलेगी।

पद १७—दँतुली = नन्हे नन्हे दाँत। महर = एक आदर-सूचक शब्द जिसका व्यवहार गाँवों के मुखिया या प्रधान व्यक्ति के संबंध में होता था। यहाँ नंद से प्रयोजन है। दोउ नैन अघाई = दोनों आँखों से जी भरकर। द्विज = दाँत।

पद १८—लगी इन नैननि, रोग वलाइ तुम्हारो—कृष्ण की शुभाशंसा करती हुई उनकी व्याधि स्वयं ले रही है। नियारी = अनि-यारी; तीक्ष्ण; नुकीली। रुचि = शोभा। जलप = विरल; थोड़े। हिंदु की बूँद = जिसकी कोई बिसात न हो; जिसका कहीं ठिकाना न हो; अत्यन्त तुच्छ; असमर्थ।

पद १९—वज्र = हीरा। हिए = हृदय को। "धन्य सूर एको पल इहिँ सुख का सत कल्प जिए।" मि०—

सूरदास ऐसो सुख निरखत जग जीजे बहु काल।

(इन लीलाओं को देखते हुए संसार में बहुत समय तक जीवित रहना चाहिए।)

यहाँ कहते हैं कि एक क्षण भी यह सुख लेकर फिर बेकार जीने से लाभ नहीं। दोनों का अर्थ एक ही है।

पद २०—खरो = विशेष रूप से। हुलसि = प्रसन्न होकर। ब्रह्मंड खंड की महिमा......दुरावत = अपने शिशु रूप में भगवान् ने ब्रह्मांड-व्यापिनी अपनी महिमा छिपा ली है। सैन = इंगित; इशारा।

पद २१—किलकत = किलकारी भरते हुए; आनंदमग्न। बिंब = परछाहीं; छाया। कनक-भूमि पर......कमल बैठकी साजत = (मणि-जटित) स्वर्ण-भूमि पर कृष्ण के हाथ और पैर प्रतिबिंबित हो रहे हैं, मानो उनके प्रत्येक चरण की प्रतिमा बनाती हुई पृथिवी अपनी बैठक सजा रही है। कमल बैठकी इ० = इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो कमल की बैठक दूसरा कमल से बैठक सजा रही है। पृथिवी अपनी कमल की बैठक सजा रही है अर्थात् अपना 'सरोज-सदन' सजा रही है। दूसरे अर्थ में पृथिवी कृष्ण के चरणों की प्रतिमा बनाती और हाथों के कमलों से अपनी बैठक सजाती है। पहले अर्थ में अधिक चमत्कार है किंतु दूसरा अर्थ अधिक स्पष्ट है।

नोट—साहित्य के रसज्ञ विद्यार्थियों को समझना चाहिए कि यह उत्प्रेक्षा उच्च कोटि की है क्योंकि इसमें उत्प्रेक्षित दृश्य न केवल सुंदर है,

सटीक भी है। वसुधा (यह शब्द भी यहाँ अतीव सार्थक है) कृष्ण के चरणों की प्रतिमा और हाथों के कमलों से अपनी बैठक सजाती हुई, उत्कट भक्ति की ही व्यंजना कर रही है। न केवल रूप की, भाव की भी झलक उत्प्रेक्षा से देखी जा रही है, मानो सारा पृथिवी-मंडल कृष्ण को अपनी बैठक में पाकर कृतकृत्य हो रहा है।

अँचरा तर = अंचल में; किंतु 'अंचल' से अधिक यहाँ 'अँचरा' की सार्थकता है। जैसे अंचल खींचकर बढ़ा लिया गया हो और कृष्ण प्यार से उसमें बरबस ढँक लिए हों। (शब्द-सौंदर्य)

पद २२—तमाल = एक सुंदर सदाबहार श्यामल पत्रों का वृक्ष। कृष्ण की उपमा संस्कृत और हिंदी के कवियों ने 'तमाल' से बहुत अधिक दी है। डगमगात गिरि परत.........नमि नाल—कृष्ण अपने पैरों के बल खड़े होकर चलना सीख रहे हैं। यशोदा उनकी अँगुली पकड़कर चला रही है। कभी वे डगमगाकर माता की हथेली पर गिरने लगते हैं। स्वभावतः उनकी भुजाएँ उस समय लच जाती हैं। इसी चित्र की उत्प्रेक्षा कवि करता है—मानो कमलिनी ऊपर चंद्रमा देखकर अपने नाल को चलाकर नीचे झुक गई हो। यहाँ 'नाल' कृष्ण की भुजा के लिये, 'नलिनी' यशोदा की हथेली के लिये और 'शशि' कृष्ण के मुख के लिये आया है। ऐसा भी हो सकता है कि कृष्ण यशोदा की हथेली पर न गिरकर अपने ही हाथों के बल गिरते हों। वैसी अवस्था में 'नलिनी' की उपमा उन्हीं के हाथों के लिये होगी। धूरि-धौत = धूल से धुला हुआ। नूपुर-धुनि = पायल की ध्वनि जो कृष्ण के चलने से होती है। चखौड़ा = डिठौना जो नजर से बचाने के लिये लगाया गया है।

पद २३—अरबराइ = घबड़ाकर; जब कृष्ण का पैर डगमगाने लगता है तब माता घबड़ाकर अपना हाथ उन्हें पकड़ाती है। बल = बलदेव। टेरि = पुकारकर।

पद २४—किंकिनी = किंकिणी; करधनी, क्षुद्रघंटिका जो कमर में पहनाई गई है। बिंब = बिंबाफल जो लाल होता है। जसुमति गान......तारि बजावै = मा का गान सुनकर बालक भी कुछ गाता और ताली बजाते देखकर स्वयं बजाता है। यह बालकों का अनुकरण सूर ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखा था। रूरे = सुंदर। सुठि = अत्यंत; विशेष। गभुआरे = गर्भ काल के। मधि = मध्य में। कठुला = एक प्रकार की माला जो बच्चों को पहनाई जाती है। चिबुक = ठोढ़ी। दुराजै = दो राजाओं के राज्य में; कठिनाई में। कठुला कंठ...परयो दुराजै = इस प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ रसमय नहीं होतीं परंतु संस्कृत में इनकी परिपाटी बँध गई थी और सूर ने भी इन्हें अपनाया है। जसुमति सुतहिँ नचावई...जिय तैँ = यशोदा कृष्ण को नचाती हैं और आनंद-मग्न हो उस छबि को देखती हैं।

पद २५—यह पद कई विचारों से महत्त्व पूर्ण है। कुछ दार्शनिक पंडित आलोचक सूर तथा अन्य भक्त कवियों के प्रत्येक वर्णन का लाक्षणिक (Symbolic) अर्थ मानते हैं और तदनुकूल उनका रस भी लेते हैं। ऊपर कृष्ण की बाललीला के जो पद आए हैं उनमें भी संकेत द्वारा दूसरे अर्थ लग सकते हैं या नहीं, यदि लग सकते हैं तो काव्य-समीक्षा में उन पदों का क्या रूप प्रतिष्ठित होता है—ये सब प्रश्न विद्वानों के सम्मुख आते हैं; पर सबसे प्रथम प्रश्न तो यह आता है कि सूर का आशय उन पदों में लाक्षणिक रहा है या वह लाक्षणिक नहीं रहा, हम ही उनमें लाक्षणिकता का आरोप करते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर इस पद से तो यह मिलता है कि सूर का आशय दूसरे अर्थों में भी लग सकता है। यों तो बाललीला के अनेक पदों में कवि अलौकिकता का संकेत करके यह आभास देता है कि वह कृष्ण के अवतार-स्वरूप का विस्मरण नहीं करता, न हमें कराना चाहता है। परंतु उन पदों में मुख्य वर्णन बालक कृष्ण का है, केवल पदों की अंतिम पंक्तियों में सूर ने 'प्रभु' 'स्वामी' आदि श्रद्धा-

सूचक विशेषणों का प्रयोग किया है, जिन्हें छोड़ देने से भी काव्य का रूप विकृत नहीं होता। पर इस पद पर पहुँचकर वह बात बदल जाती है। जब कृष्ण अपने हाथ में मथानी लेते हैं तब नेति और दधिपात्र का स्पर्श होते ही नागराज भी भयभीत हो उठते हैं! क्या इसे कोई बाललीला कह सकता है? यह कृष्ण की बाललीला तो समुद्रमंथन तथा कल्पांत के प्रलय का दृश्य दिखा रही है, तो क्या यह वही आशय नहीं रखती? ऐसे ही एक अन्य अवसर पर सूरदास बाल-कृष्ण को मुख में अँगूठा डालते चित्रित कर साथ ही सारी सृष्टि को प्रकंपमान कर देते हैं। ऐसे वर्णनों से बाललीला की झलक तो कम मिलती है दूसरा ही अलौकिक आशय अधिक प्रकट होता है। इस प्रकार के अलौकिक आशयों के आधार पर उक्त विद्वान् आलोचक सभी प्रसंगों का लक्षणा द्वारा दूसरा अर्थ लगाते हैं और कृष्णचरित के भीतर ईश्वर, जीव और जगत् के दार्शनिक रूप को प्रत्यक्ष करते हैं। जो पंडित ऐसा करना चाहें उन्हें कोई निषेध नहीं कर सकता। सूर के काव्य में इस बात के प्रमाण हैं कि वे कवि तो थे ही, भागवत धर्म के ज्ञाता भी थे। उनका बुद्धि-वैभव इतना बढ़ा-चढ़ा अवश्य था कि वे कृष्णचरित के भीतर व्यापक ब्रह्मका निर्वचन भी कर सकते थे। भक्त जन तथा दार्शनिक दोनों को ऐसे निर्वचन रमणीय लगते हैं। फिर यदि उस निर्वचन को काव्य के आवरण में प्रस्तुत किया जाय तो सोने में सुगंधि ही है। देखना चाहिए कि काव्य के आवरण में ऐसे संकेत-अर्थ किस शैली से लाए जा सकते हैं।

आचार्य पं० आनंदशंकर ध्रुव ने श्रीकृष्ण के होली खेलने के संबंध का एक पद किसी संत से लेकर उद्धृत किया है—

एक समय श्रीकृष्णदेव के होरी खेलन मन भाई।
कृष्ण ने कैसी होरी मचाई अचरज लखियो न जाई॥
असत सत कर दिखलाई कृष्ण ने कैसी होरी मचाई।
... ...॥

वे इस पद पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि 'हमें तो जगत् में सर्वत्र परमात्मा की ही होली मची हुई मालूम पड़ती है। वह इस होली में स्वयं पूर्ण रस से रमण करता है और जीवों को रमण कराता है। इस होली की अद्भुतता का वर्णन नहीं किया जा सकता। विज्ञान का प्रत्येक प्रयत्न भगवान् की लीला के आश्चर्य को अधिकाधिक गंभीर और उद्दीप्त कर रहा है। कवि ने यथार्थ लिखा है—"अचरज लखियो न जाई।"

परंतु जिस कवि का यह पद है वह काव्य-भूमि को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में चला गया है। 'अचरज लखियो न जाई' तक तो सुंदर काव्य है पर इसके आगे 'असत सत कर दिखलाई' और 'पाँच भूत की धातु मिलाकर अँड पिचकारी बनाई' आदि नीरस उपमाओं में फँसकर उसने काव्यत्व का तिरस्कार कर दिया है। कवि सूरदास ऐसा नहीं कर सकते थे। वे तो कविता के रहस्य को समझते थे। उनके जो पद ऊपर आ चुके हैं वे सब काव्य-गुण-पूर्ण हैं। बाललीला का वर्णन करते हुए सूर ने स्थान स्थान पर प्रेम-विह्वल होकर कृष्ण के लिये 'सूर के प्रभु,' 'स्वामी की लीला' आदि जो प्रयोग किए हैं उनसे तो भगवान् के प्रति उनकी अपरिमित प्रीति की ही प्रतिपद में व्यंजना होती है।

सूर ने कृष्ण के होली खेलने का, वंशी बजाने का, रास रचने का, अनेक लीलाओं का ललित वर्णन किया है जिसमें विद्वानों को लाक्षणिक अर्थ की झलक भी मिलती है, पर सूर ने उस लक्ष्य को स्थूल नाम देकर अपना काव्य-चमत्कार नष्ट नहीं किया है। उनकी रचना-चातुरी ऐसी है कि काव्य-रसिक अपना कविता-रस लेते हैं और विद्वज्जन कविता के अंतरपट में रुचिर दार्शनिक तथ्यों का साक्षात्कार करके रसमग्न होते हैं। वर्णन के धाराप्रवाह में सूर ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक चमत्कार का परिचय देनेवाले ऐसे पद रख दिए हैं—जैसा कि प्रस्तुत पद है—जिनसे लोग उनकी काव्यधारा का मज्जन-सुख ही नहीं, दर्शन-सुख

भी प्राप्त कर सकें। सूर की यह लाक्षणिक शैली ऐसी उच्चकोटि की है कि कविता और दर्शन की धाराएँ सूरसागर में समानांतर होकर बहती हैं, कोई विक्षेप नहीं पड़ता। जैसे अंतःसलिला सरस्वती गंगा और यमुना के बीच हों, ऐसा ही सूर की कविता-सरिता के उभय उप-कूलों के बीच उनका लाक्षणिक अर्थ है।

कविवर जायसी का पदमावत काव्य भी लाक्षणिक आशय रखता है जिसे पदमावत के समीक्षक आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल लाक्षणिक न कहकर 'अप्रस्तुत' कहते हैं। परंतु शुक्लजी ने उस अप्रस्तुत अर्थ को—जो जायसी को विशेष प्रिय रहा होगा—उचित महत्त्व नहीं दिया। कथानक-काव्य होने के कारण शुक्लजी को उसका अप्रस्तुत अर्थ प्रक्षिप्त सा मानना पड़ा है, परंतु सूर की कविता में उस तरह की कोई कठिनाई हमारे सामने नहीं है। कथानक-काव्य भी पूरे के पूरे लक्ष्य होते हैं—अन्योक्ति कहला सकते हैं—जैसे अँगरेजी की प्रसिद्ध हास्य पुस्तक 'गलीवर्स ट्रेवल्स'। हास्यरस की प्रायः सभी रचनाएँ—जिनमें लंबे लंबे कथानकोंवाली भी अनेक हैं—लाक्षणिक अर्थ खुलने पर ही अधिक आनंद देती हैं। हमारे इस काल के बंगाली हास्यलेखक परशुराम की अनेक कहानियाँ पूरी की पूरी लाक्षणिक हैं। शुक्लजी को पदमावत के 'अप्रस्तुत' अर्थ को एकदम 'समाप्त' कर देने की आवश्यकता क्यों पड़ी यह हम नहीं कह सकते, पर हम सूरसागर के लिये यह निश्चय कहेंगे कि यहाँ वैसा कोई प्रतिबंध नहीं है; जिसे जो लक्ष्यार्थ मिलेगा—पंडितों को बहुत से मिलेंगे—वे स्वच्छंद रूप से उसका रस लेंगे। 'सूर सगुन पद गावै' की आरंभिक प्रतिज्ञा से यह स्पष्ट है और ऊपर के पद तथा ऐसे ही अन्य पदों को देखकर और भी निश्चय है कि कृष्ण की सभी लीलाओं में अरूप को ही रूप तथा निराकार निर्विषय निरामय ब्रह्म को ही भिन्न भिन्न आकार आशय प्राप्त हुए हैं। निश्चयपूर्वक यह कोई नहीं कह सकता कि इसका यही विशेष आशय है। 'हरि अनंत हरि-कथा अनंता' की उक्ति सत्य ही है। सांप्रदायिक मतवाद

से अलग रहते हुए भी विज्ञजन अपना अपना लक्ष्यार्थ इन पदों में प्राप्त कर सकते हैं। उन्हें रोकनेवाले हम कोई नहीं हैं।

नेति = वह डोरी जो मथानी में लपेटी जाती है जिसके खींचने से मथानी फिरती है। बासुकि = नागराज जो समुद्र-मंथन के समय ऐंचन बनाए गए थे। अहुँठ = अध्युष्ठ; साढ़े तीन। देहरि = देहली; द्वार के चौखट की वह लकड़ी जो नीचे होती है। कबहुँक अहुँठ......न जानी = वामन अवतार के समय जिन्होंने पृथिवी को तीन कदम में ही नाप डाला था, आज वे (बाल-लीला करते हुए) देहली भी नहीं लांघ पाते। "कबहुँक सुर-मुनि ध्यान न पावत कबहुँ खिलावति नँद की रानी"—सूरदास। मि०—

जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनै बनावा॥

—रामचरितमानस।

अमर-खीर = देवताओं की खीर। मेखला = करधनी। आर = हठ। बिनानी = विज्ञानी।

पद २६—मैं = मैं। मनुहारी = विनय करके फुसलाना; प्रसन्न करना। कलेऊ = कलेवा; जलपान। मुख चुपरयौ अरु चोटी = मुख और बालों में (तेल) चुपड़ा। ठाकुर = मालिक; स्वामी। लकुटिया = छड़ी।

पद २७—हौंस = हौसला; इच्छा। राखै जिनि = अपूर्ण न रख; अतृप्त न रख। घीसि = घसीटकर। मथुरा राखौं जै री = मथुरा में अपनी विजय रखूँ।

पद २८—धौरी = धवली; सफेद। लवनी = नवनीत; मक्खन। दुरि देखति = छिपकर देखती है।

पद २९—कृष्ण अब कुछ बड़े हो रहे हैं। अब जल में चंद्रमा की छाया देखकर चंद-खिलौना वे नहीं लेना चाहते। असली चंद्रमा चाहिए। उत्साह भी अपार है।

क्योंकि गहैंगौ = उछलकर पकड़ लूँगा। यह तौ झलमलात... चहैंगौ = यह जल के भीतर का चंद्रमा तो झकझोरने से काँपने लगता है; इसे मैं कैसे चाह सकता हूँ। यह मुझे अच्छा नहीं लगता। वह तौ निपट निकट...रहैंगौ = आकाश का चंद्रमा मुझे तो विशेष दूर नहीं देख पड़ता। अब मैं तुम्हारे मना करने से नहीं मानूँगा। अवश्य उसे लूँगा। धौराए न चहैंगौ = मैं धोखा नहीं खा सकता।

पद ३०—मनहुँ मथत...पूरन चंद = यशोदाजी कृष्ण के मुख का आवरण हटाकर उन्हें जगाती हैं, मानो समुद्र-मंथन करते हुए देवता के गण फेन विलाते ही चंद्रमा के दर्शन प्राप्त कर रहे हैं। ईस = महादेव। स्तुति छंद = वेदों की ऋचाएँ। सोइ गोपाल......पूरन परमानंद = अपने संपूर्ण आनंद स्वरूप को प्रकट कर भगवान् व्रज में प्रकट हुए हैं।

पद ३१—नाहिँ न इतौ सोइयत = इतना नहीं सोया जाता। सुनि = सुनो। सुचि काल = पवित्र; सुंदर वेला में। फिरि फिरि जात......मधुकर की माल = गोपों के बालक क्षण क्षण में मुख देख देखकर लौट जाते हैं, जैसे भ्रमरों के समूह कमल-कोष को बंद देखकर लौट जाते हैं। कृष्ण अभी जगे नहीं हैं। गोपाल-बाल इसी की प्रतीक्षा में हैं। जो तुम मोहिँ......नैन बिसाल—यह बड़ी ही चमत्कारपूर्ण उक्ति है। यशोदा चाहती है कि कृष्ण किसी प्रकार जगें। वह कहती है, यदि तुम्हें हमारी बातों का विश्वास नहीं है तो स्वयं ही आँखें खोलकर देखो। (इसी बहाने उनका जागना हो।)

पद ३२—इस पद में सूरदास ने कृष्ण की जो मुद्रा अंकित की है वह चित्र-कला की दृष्टि से अनूठी है। काव्य में चित्र अंकित करने की एक सुंदर प्रणाली वह है जिसे पंडित रामचंद्र शुक्लजी ने 'बिंब-ग्रहण' शब्द से व्यंजित किया है। काव्य में यह 'बिंब-ग्रहण' वैसा ही है जैसे चित्र में रंग की करामात। परंतु रंग की करामात के अतिरिक्त और और करामातें भी चित्र को उत्तम बनानेवाली होती हैं। उदाहरण

के लिये इस चित्र में रेखाओं की करामात है। चित्रकला के विचार से यह पद काव्य में उत्तम रेखा-चित्र है। एक एक पंक्ति एक एक सुंदर सार्थक रेखा के रूप में चित्र को पूर्ण बना रही है। शुक्लजी के 'बिंब-ग्रहण' वाले चित्रांकन से इसका महत्व किसी प्रकार कम नहीं है।

पद ३३—खिझवत = तंग करते हैं; चिढ़ाते हैं। खिसैया = चिढ़कर। घिर्‌यौ = धमकाया; डाँटा।

पद ३४—भोरे = भोले-भाले; सीधे। रोहिणी = वसुदेव की स्त्री जो बलराम की माता थी। अँकोरे = अँक में; बाहुओं के बीच।

पद ३५—अगनिया = अगणित। छवि-धनिया = छवि के पति; परम सुंदर (कृष्ण)। भुवनिया = भुवन में। अँचमन लीन्हैं = आचमन किया; मुख धोया। माँगत सूर जुठनिया = सूरदास जूठन माँगते हैं (अत्यंत प्रेम की विह्वलता)।

पद ३६—अब कृष्ण घर की देहली नाँघकर बाहर ग्वाल-बालों के साथ खेलने जाने लगे हैं। पिता नंद और माता यशोदा के बड़े प्रियपात्र होने के कारण वे खेल में भी अपना विशेष अधिकार चाहते हैं और चाहते हैं कि हमारे साथ यहाँ भी रियायतें की जाएँ—पर वह यहाँ कहाँ! भरत के भाई रामचंद्र तो थे नहीं जो हारे खेल में भी उन्हें जिता देते, यहाँ तो बच्चों का निर्विकल्प न्याय ठहरा—जो जीते वह जीते, जो हारे वह हारे। बालकों की निर्द्वंद्व, अलमस्त प्रकृति का सुंदर चित्रण है।

गुसैयाँ = मालिक; अधिकारी।

पद ३७—दुरे हैं = छिपे हैं। चक्रित = चकित। जलरुह...... उपहार—इस उत्प्रेक्षा में भी एक विशेषता है। कमल का चंद्रमा से वैर त्यागकर उपहार समेत मिलना—यह आश्चर्यघटन—कृष्ण के ही प्रसंग से हो रहा है। महिमा की बात है। गिरि गिरि......आगम इंदु = मुख से दधि-बिंदुओं का गिरना ऐसा है जैसे चंद्रमा प्रियजन-आगमन के उपलक्ष में सुधा-बिंदु बरसा रहा हो। प्रियजन-आगमन

का हेतु कवि-कल्पित है किंतु चमत्कार-पूर्ण है। फुरे = स्फुरित होना; स्फुट होना; निकलना। वरजवे कारन = मना करने के लिये। रही विचारि विचारि = असमंजस में पड़ गई है कि मना करें या यह सुंदर दृश्य देखती रहें।

पद ३८—हाथहि आए = पकड़े गए। अचगरी = नटखटपन; शरारत। ललना = कृष्ण के लिये संबोधन; लालन। घात परे हौ = दाँव पर चढ़े हो; मेरे वश में हो। तेरी सौं = तुम्हारी शपथ; जान पड़ता है कृष्ण झूठी शपथ भी खा लेते थे, पर इसके बाद ही उनके मुख से हँसी निकली आती थी। सरलता और विनोद का सुंदर मिश्रण है। रिस = क्रोध।

पद ३९—महरि = यशोदा के लिये संबोधन। वयस = आयु। वहुतै निधि = बहुत बड़ी निधि। सुनहु न वचन......यह आई—गोपिका के मुख से अपनी कृपणता का विवरण सुनकर यशोदा नंद से कहती है—इसकी बातें तो सुनो, यह चतुर नागरी कृष्ण की चोरी का हाल सुनाने नहीं आई, इसी बहाने उन्हें देखने आई है।

पद ४०—भाजन = बर्तन; पात्र; दधिपात्र। साँकरी खोरि = पतली गली में; जहाँ निकल जाने के लिये बहुत प्रसार नहीं है। गारी देत = मजाक करते हैं। सब ब्रज बाँध्यौ प्रेम की डोरि = यह आश्चर्य है कि जो गोपवधू कृष्ण की शिकायत करने आई थी वही इन शब्दों में उनका परिचय देती है। क्या करे, विवश है। टोना सो पढ़ि नावत सिर पर = ऐसा जादू पढ़ देते हैं कि हम उनका विरोध नहीं कर पातीं, जो चाहते हैं छीन लेते हैं। सिकहरैं तोरि = छीके को, जो दधिपात्र आदि रखने के लिये बनाया जाता है, तोड़कर। अब तोरत चोली-बँद-डोरि = अब चोली-बंद की डोरी भी तोड़ने लगे हैं। यह डोरी पीठ की तरफ बाँधी जाती है जिससे उरोज कसे रहते हैं।

यहाँ कई प्रकार के प्रश्न उठते हैं। क्या कृष्ण का चोली-बंद तोड़ना उचित है? इस तोड़ने में उनका कौनसा भाव लक्षित होता

है। इसको 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' के अनुसार कृष्ण का अलौकिक कृत्य मानने में क्या आक्षेप है? कृष्ण को आदर्श मानकर उनका अनुसरण करनेवालों के लिये उनका यह कार्य क्या अर्थ रखता है? अथवा यहाँ कृष्ण के चोली-बंद तोड़ने का कुछ और ही अर्थ माना जाय?

इन प्रश्नों को लेकर काफी समय से विवाद हो रहे हैं। जहाँ तक कविता का संबंध है, यह चोली-बंद तोड़ने का प्रसंग रसात्मक है। कवि सूर की यह प्रतिपत्ति प्रशंसनीय है कि उसने अपने वर्ण्य विषय के लिये काव्य की परिधि का उल्लंघन कभी नहीं किया प्रत्युत उस परिधि का विस्तार ही किया है। बहुत से पहुँचे हुए संतों की शुष्क वाणी से सूर की यह सरस धारा कितनी कमनीय है, यह साहित्य के विद्यार्थी समझ सकते हैं। सारी विषय-वासना को भस्मांत करने के बाद कवि ने चोली-बंद तोड़ने के इस प्रसंग में क्या रस पाया, यह तो हम आगे देखेंगे, यहाँ यह देखते हैं कि उसने काव्य की क्यारी को इन पदों से अभिसिंचित किया है।

आदर्श संबंधी विचार के लिये सूर से क्या जवाब तलब किया जा सकता है? सूर ने यह प्रतिज्ञा नहीं की कि वह कृष्णचरित का गान इसलिये कर रहे हैं कि लोग उसका अनुकरण करें। उनकी प्रतिज्ञा केवल यह है कि निर्गुण ब्रह्म के पीछे निरालंब न दौड़कर वे सगुण पद गान कर रहे हैं।

जो लोग सूर के कृष्ण का अनुकरण करना चाहें वे पहले उसके स्वरूप को समझ लें। स्वयं परब्रह्म ने यह परमानंद स्वरूप धारण किया है। लौकिक आचरण का आदर्श यह नहीं है क्योंकि कृष्ण के जन्म-कर्म दिव्य हैं, उनका आचरण अलौकिक है। यही तो बात है कि जीव के रूप में अवतरित होकर परमात्मा माया के बंधन में पड़ते हैं पर कृष्ण के रूप में अवतरित होकर वे मायापति हैं और जनों को माया से मुक्त करते हैं। हम समझते हैं कि कृष्ण ने अवतार लिया किंतु

वास्तव में तो कृष्ण अवतार लेते से भासित हुए हैं। हम यदि कृष्ण पर किन्हीं कर्मों का आरोप करते फिर उनके अनुकरण का अनुष्ठान करते हैं तो हम एक पर्दे पर दूसरा पर्दा डालकर वास्तविक दृश्य को देखने का सा प्रयास करते हैं।

सांख्य में इस पर्दे के बदले एक आइने का रूपक है जिस पर पड़कर पुष्प का अक्स बदल जाता है। पुष्प तो वही है पर आइने से उसका रंग दूसरा हो गया। सोचने की बात है, एक आइने के बदले यदि दो दो आइने रख दिए जायँ तो क्या इससे स्वच्छ पुष्प की सत्य कांति प्रकट होगी? फिर हम भगवान् के रूप को अपनी बुद्धि, आदर्श, आचरण आदि के आइनों से जो देखना चाहते हैं तो क्यों न और भी विकृत रूप हमें देख पड़े!

एक प्रश्न, जो अब भी शेष रह जाता है, यह है कि भगवान् के जन्म-कर्म तो दिव्य थे किंतु सूर को इसकी क्या आवश्यकता थी कि वे यह चोली-बंद तोड़ने की ही कथा लेकर उस दिव्य जन्म-कर्म को दिखाते? इसका एक उत्तर तो यही है कि सूर श्रेष्ठ कवि थे और अपनी काव्य-सामग्री के उपयुक्त उन्हें यह दृश्य दिखाना अभीष्ट था। दूसरी बात यह कि सूर एक पहुँचे हुए संत महात्मा थे जिनके लिये चोली-बंद तोड़ने की क्रिया उतनी ही उचित-अनुचित थी जितनी और सब क्रियाएँ। जिस स्तर से सूर का काव्य-स्राव हुआ है उस पर पहुँचकर देखने से इसमें अनौचित्य की कल्पना भी कहीं नहीं की जा सकेगी। फिर कृष्ण की इस लोकलीला का सांगोपांग वर्णन—जो काव्य-संकलन के लिये आवश्यक है—कैसे होता यदि माखन-चोरी के उपरांत गोपिका-समाज की ललित लीलाएँ न दिखाई जातीं।

पं० रामचंद्र शुक्ल ने सूरदास की सामयिक परिस्थिति का अवलोकन करके यह निर्णय किया है कि तत्कालीन देशव्यापी निराशा का प्रतिकार सूर की सरस वाणी से बहुत कुछ हुआ। पारिवारिक जीवन का मधुर विनोदपूर्ण पक्ष जनता की आँखों में नाच उठा जिससे उसकी जीने की

इच्छा उद्दीप्त हुई। यह सब सामूहिक विचार है। इसे लेकर यह तर्क करना अत्यंत अनुचित है कि सूरदास ने सामयिक जीवन में आशा और विनोद के अंकुर उत्पन्न करने के आशय से न केवल शृंगार काव्य की रचना की वरन् अश्लील काव्य तक रच डाला। सूर के संपूर्ण अर्थ का अनर्थ करके ऐसी बातों के पीछे पड़ने में घोर अन्याय है। कवि के काव्य से क्या फल निकला, समूह में उसका कैसा सत्कार हुआ, यह सामूहिक मनोविज्ञान और इतिहास का विषय है। कवि की रुचि, आशय और साधना का इससे विशेष संपर्क नहीं है।

इतने पर भी यदि कुछ लोग ऐसे हों जो अपनी दृष्टि को ही सूर की दृष्टि बना लें और चोली-बंद तोड़ने की क्रिया में दोष देखने लगें तो भी प्रश्न है कि सूर के कृष्ण यदि ऐसा करते हैं तो गोपिकाएँ उसका विरोध क्यों नहीं करतीं? एक गोपी, दो-तीन नहीं, सौ नहीं, सारे प्रदेश की सब गोपियाँ क्या इतनी आचारभ्रष्ट हो गई थीं कि सब की सब कृष्ण के इस कृत्य को सहर्ष स्वीकार कर लेतीं? सूर ने तो इस सामूहिक पतन का कोई परिचय नहीं कराया, न कृष्णकालीन कोई इतिहास कराता है। तो फिर इसका क्या कुछ रहस्य नहीं?

जो कृष्ण एक दिन चोली-बंद तोड़ते हैं, वे ही दूसरे दिन कंस का वध करते हैं। अपने समय के सबसे बड़े पराक्रमी और नृशंस नृपति का नाश क्या साधारण काम था? यही नहीं, जो कृष्ण आज गोपियों के साथ विनोदपूर्ण क्रीड़ाएँ कर रहे हैं वे ही कल वहाँ चले जायँगे, जहाँ से, निकट होते हुए भी, वे उनके पास कभी नहीं आएँगे। मथुरा से ब्रज दूर नहीं है, यह तो और भी बड़ा प्रलोभन था कि कृष्ण बीच बीच में ब्रज की सैर करने आते, पर वे कहाँ आए? कृष्ण का यह व्रत कितना कठोर था कि वे बगल में रहते हुए भी अपनी प्रेमपात्र गोपियों से एक जन्म को विदा हो गए। कभी एक बार भी न मिले। इससे कृष्ण के निर्लिप्त रूप की झलक मिलती है। उनका यह अमिट, अटल व्रत लोगों के आदर्श और अनुकरण का विषय बन सकता है।

बहुत से सज्जन ऐसे हैं जो लाक्षणिक अर्थ को ही सत्य मानते हैं। जैसे जहाँ चोली-बंद तोड़ने का उल्लेख है तो इसका अर्थ चोला-बंधन या शरीर-बंधन तोड़ना सहज ही बना लेते हैं जिससे अर्थ की अनुरूपता भी आ जाती है। संस्कृत में तो एक एक शब्द के अनेक अनेक अर्थ किए जाते हैं। धातुओं का इतना लचीला आकार है कि जिधर चाहें घुमा लें। लोगों को अपने अपने ईप्सित अर्थ तक पहुँचने की बहुत सी सुविधाएँ हैं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि शब्द को जादू का करिश्मा और भाषा को इंद्रजाल बनाकर साहित्य की परिपाटी ही चौपट कर दी जाय।

लक्ष्यार्थ के विषय की चर्चा करते हुए हम कह चुके हैं कि कवि के द्वारा निर्दिष्ट न होने पर भी (काव्य-कला के विचार से कवि उसका अलग से निर्देश करना उचित नहीं समझेगा) विचक्षण और सुबुद्धि पाठक अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार दूसरे अर्थ को ग्रहण करते हैं परंतु इस विषय में हम यह भी कह चुके हैं कि कवि का आशय समझकर ही ऐसा करना चाहिए, उसके विरुद्ध नहीं। इसके अतिरिक्त यह प्रतिबंध भी मानना चाहिए कि लक्ष्य अर्थ काव्य की सरसता का बाधक न हो, उसे द्विगुणित काव्य बना देता हो। संस्कृत के अलंकार-शास्त्रियों के अनुसार लक्ष्य अर्थ को कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध होना चाहिए पर इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। बिलकुल नवीन संकेतों द्वारा भी लक्ष्य का निर्देश किया जा सकता है यदि उसमें उचित स्वाभाविकता और अर्थ-प्रवणता हो। एक एक शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में खींचतान करके जो अर्थ गढ़े जाते हैं वे अर्थ की रमणीयता का अपहरण कर लेते हैं। लक्ष्यार्थ तो वह श्रेष्ठ है जो आप से आप प्रकट होता जान पड़े। उदाहरण के लिये कृष्ण के होली खेलने का यदि कुछ लक्ष्य लिया जाय तो वह 'होली' शब्द के अर्थ में पैठने की बौद्धिक क्रिया द्वारा नहीं, बल्कि होली का जो एक चित्र वासना रूप से हमारे मन में बना हुआ है, उसी से वह लक्ष्य अर्थ उद्भूत हो जाय। इसी

में काव्य की शोभा है और इसी से उसका द्विगुणित आनंद प्राप्त हो सकता है।

हिंदू विचारधारा की जो शास्त्रीय प्रणाली है उसके अनुकरण कृष्ण का अवतार लाक्षणिक है, उसकी सब लीलाएँ लाक्षणिक हैं—लीला का अर्थ ही है लाक्षणिक—और उनके दिव्य जन्म-कर्म को हम अपनी लौकिक दृष्टि से देख ही नहीं सकते। अतः इसकी आवश्यकता नहीं कि काव्य की स्वाभाविक गति में विक्षेप करनेवाले किसी न किसी लाक्षणिक अर्थ को ग्रहण ही करें। तथापि स्वतंत्रता तो सबको है और दार्शनिकों की ऐसी रुचि भी होती है।

पद ४१—सींके = सिकहर। साँटि = छड़ी।

पद ४२—पीतांबर...अंचल दै मुसुकात = कृष्ण स्त्रियों की भाँति पीतांबर सिर पर ओढ़ लेते हैं और घूँघट काढ़कर मुसकाते हैं। उरहन देति लजात = उलाहना देते भी लज्जा मालूम होती है (क्योंकि कृष्ण को देखकर कोई नहीं विश्वास करेगा कि वे ऐसा काम करेंगे)। तनक ह्वै जात = छोटे हो जाते हैं; नादान बन जाते हैं। सूर...कहा यह बात = यशोदा श्याम का मुख देखकर पूछती है, कहो यह कैसी बात है जो वह कह रही है।

पद ४३—जोवै = देखती है; ताकती है। बंधन छोरि जसोवै = यशोदा, तू इसका बंधन छोड़ दे। कृष्ण को यशोदा ने आज बाँध रखा है। खरौ अचगरौ = बहुत शरारती है। तऊ कोखि कौ जायौ = तो भी तेरा ही पुत्र है। तिहि घर देव...कान्हर आयौ = जिस घर में कृष्ण का फेरा हो गया उसमें देव-पितर की पूजा बंद समझिए। क्योंकि घर की कोई चीज कृष्ण के मारे अजूठी नहीं रह सकती। दोउ सुत कुबेर के = यमलार्जुन के युग्म पेड़ जिनमें कृष्णचंद्र बाँधे गये थे। यह युग्म कुबेर के दोनों शापित पुत्र थे। कृष्ण पेड़ों से बँध गए किंतु उन्होंने शीघ्र ही खींचकर उन्हें जड़ से उखाड़ डाला जिससे कुबेर के पुत्रों का शापमोचन हुआ।

पद ४४—इतो कोह निवारि = इतना (बड़ा) क्रोध दूर करो; इन पर कोप मत करो। मकरध्वज = कामदेव। मनहु...कलापति = मानों पूर्णचंद्र के अंक में रजनी सुशोभित हो रही हो। वेगि बंधन छोरि...हिय लाइ = शीघ्र उनका बंधन छोड़कर हृदय से लगा ले और बलिहारी जा।

पद ४५—बरन बदनहिं थोर = मुख का रंग फीका पड़ गया है। मुकुर-मुख दोउ......छबि-छोर = मुकुर जैसे स्वच्छ मुख में अपार शोभा-शालिनी आँखें आँसू ढाल रही हैं। इतने सुंदर मुख की इतनी सुंदर आँखें आँसू गिराएँ यह दृश्य असाधारण रूप से करुण है। कनीनिका = आँखों की पुतली। लकुट = छड़ी; लाठी। सोनित बोर = ललछर हो रहे हैं; (आँखों में) ललाई दौड़ रही है। वहाइ रिस = क्रोध दूर कर। निपट निहोर = विचित्र प्रार्थना।

पद ४६—अँचवत...तृप्ति कैंं पावै = आँखों की अंजलि से आतुरतापूर्वक (रूप-माधुरी) पान करते हुए भी मन को तृप्ति नहीं मिलती। सिखि-सिखंड = मयूर की शिखा। बन-धातु = गेरू या ऐसी ही रंगीन मिट्टी। प्रबाल = मूँगे अथवा नए कोमल पत्ते। कछुक कुटिल = थोड़े थोड़े कुंचित। गो-रज-मंडित = गोधूलि से धूसरित। सोभित मनु......सुदेस = मानो कोई सुंदर भ्रमर कमल रेणु के लगने से शोभित हो रहा हो। कुंडल-किरनि = कुंडल की चमक। करति मदन मन हीन = मदन का मन छोटा कर देती है; उसे भी पराजित कर देती है।

पद ४७—तमासौ = कुछ रोचक वस्तु। मौढ़ा = बालक। चुचकारि = फुसलाकर। भागि......हाऊ = मुझे वहाँ झाऊ के सघन वन में छोड़कर यह कहते हुए भाग निकले कि हाऊ इसे काट खाय। डरपौं = डरता हूँ। धीर धराऊ = धीरज धरानेवाला। थरसि गयौं = भयभीत हो गया; त्रस्त हो गया। अगाऊ = आगे; दूर। साऊ =

साहु; महाजन; खरीदनेवाले; कहते हैं कि हमने तुम्हें खरीदा है। चवाई = चुगलखोर; निंदा करनेवाला।

पद ४८—कृष्ण माता से कहते हैं कि मैं अब गाय चराने जाना चाहता हूँ। पिता नंद से इस बात की सिफारिश कर दो। यहाँ से कृष्ण का संसर्ग ब्रज-समाज से अधिक व्यापक और प्रौढ़ हो चला है। रैता पैता...हलधर = ये सब कृष्ण के साथी ग्वाल-बालों के नाम हैं। ओदन = चावलों का भात। काँवरि = बहँगी और उसमें बँधे हुए पात्र, जिनमें तीर्थ-जल या ऐसी ही चीजें ढोई जाती हैं। सूरदास...... जु नहैं हाँ = यमुना-जल की साक्षी देकर कहता हूँ कि मैं उसमें स्नान नहीं करूँगा। यशोदा को आशंका थी कि कृष्ण बाहर जाकर जो उत्पात कर सकते हैं उनमें एक यमुना-स्नान भी है, अतः कृष्ण उसका निवारण करते हैं।

पद ४९—कनियाँ = गोद। निछनियाँ = निछान; पूर्ण रूप से स्वच्छ। मो कारन = मेरे (खाने के) लिये। नन्हैया = प्यार से नन्हे बालक का संबोधन यहाँ कृष्ण के लिये आया है। हरि हलधर की जोटी = कृष्ण और बलदेव की जोड़ी। यहाँ भक्तों को स्वयं ही यदि 'हरि-हलधर' से नर-नारायण की जोड़ी का रूप प्रत्यक्ष हो तो उन्हें उसका आस्वाद लेने से रोका नहीं जा सकता और इसमें काव्य को किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं है।

पद ५१—नागर = चतुर; विवेकी पुरुष। तनु अति......पीत तरंग = श्याम शरीर के समुद्र में पीतपट की तरंग उठ रही है। चितवत......अंग = फिर जब वे चलते हैं तब जैसे उस सुंदरता के सागर में भँवर उत्पन्न होने से और भी शोभा बढ़ जाती है। मुक्ता माल......एकै संग = कृष्णचंद्र मोतियों की जो दुलड़ी (माला) पहने हैं वह मानो दो गंगाएँ एक साथ ही उस सुंदरता के सागर में मिलने आई हैं। मनु अडोल......वृंद = मानो स्थिर समुद्र में पूर्णिमा की रात्रि नक्षत्रों समेत प्रतिबिंबित हो रही हो। बदन चंद......समेत=

मुख-चंद्र की शोभा देखने में ऐसा सुख देती है जैसे समुद्र-मंथन से चंद्रमा, लक्ष्मी और सुधा निकलकर एक ही में एकत्र हो गई हों अर्थात् कृष्ण की मुख-छवि अकेली चंद्रमा की छवि से बढ़कर है। तरि सकीं न सोभा = उस शोभा-सागर को तैर नहीं सकीं; उसकी संपूर्ण छवि अपने हृदयों में उतार नहीं सकीं। प्रेम पचि हारि = प्रेम के कारण और भी शिथिल होकर बैठ रहीं (यदि इतना प्रेम न होता तो शायद सुंदरता के समुद्र में कुछ दूर तक और आगे बढ़तीं)। प्रेम और सौंदर्य का सूक्ष्म मनोविज्ञान देखने लायक है।

पद ५२—पद ५२ और ५३ में कृष्ण के मुरली बजाने का प्रसंग आया है। सूर ने मुरली के संबंध में बहुसंख्यक पद कहे हैं जिनमें यहाँ केवल कुछ का संग्रह किया गया है। सूर ही नहीं, भारत की अनेक भाषाओं के बहुत से भक्त कवियों ने कृष्ण की वंशी की मोहिनी-शक्ति का गान किया है। मूल में यह प्रसंग श्रीमद्भागवत में आया है जहाँ उसे वेणु-गीत कहते हैं। उत्तर भारत के प्रसिद्ध मतप्रवर्तक, सूरदास के दीक्षागुरु श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने भागवत की अपनी सुबोधिनी नामक टीका में उक्त वेणु-गीत की व्याख्या करते हुए लिखा है कि वेणु-गीत से भगवान् के नामात्मक और रूपात्मक स्वरूपों में से नामात्मक स्वरूप का बोध होता है। सच ही है क्योंकि वेणु तो स्वरवाली वंशी है जो मुखर होकर—चित्रवत् रूप दिखाकर नहीं—अपना प्रभाव उत्पन्न करती है। कृष्ण के द्वारा गीत होने के कारण यह वेणु-गीत चराचर को मोहनेवाला और उन्हें एक अशेष में तन्मय कर शेष का मोह छुड़ा देनेवाला सिद्ध हो जाता है। संगीत की प्रशंसा यूरोप के कला मर्मज्ञों ने भी कम नहीं की है। प्राचीन यूनान में संगीत का रहस्य समझा गया था, वहीं से अन्य पश्चिमी देशों में भी उसका प्रसार हुआ था। प्रसिद्ध अँगरेज निबंध-लेखक स्टिवेंसन ने संगीतदेव (Pan) के वेणु (pipe) का माहात्म्य कहते हुए लिखा है कि इससे तो हर्ष-शोक, भय-आह्लाद दोनों प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं। परंतु हमारे देश की

अद्वैत परिपाटी के अनुसार महात्मा वल्लभाचार्य ने वेणु की व्युत्पत्ति बतलाते हुए 'व' से उस ब्रह्मसुख को ग्रहण किया है जिसके सामने 'इ' संसार का सुख 'अणु' नगण्य बनकर लुप्त हो जाता है। इस प्रकार वेणु-ब्रह्म-सुख में लीन करने का वह साधन है जो निस्साधन जीवों को भगवान् का आशीर्वाद रूप प्राप्त होता है।

श्रीवल्लभाचार्य ने वेणु-गीत की विस्तृत व्याख्या भी की है परंतु उससे यहाँ प्रयोजन नहीं। महात्मा सूरदास स्वयं ही उन आचार्य के शिष्य थे अतः यह समझना असंगत नहीं कि भागवत के वेणु-गीत की आचार्य-कृत व्याख्या उन्हें उपलब्ध हुई होगी और उनके सूरसागर के पदों में उसकी छाप पड़ी है।

जहाँ तक कविता का प्रयोजन है, कवि के ये पद पूर्ण रूप से सरस हुए हैं जिनसे यह लक्षित है कि सूर स्वयं तो संगीतज्ञ थे ही, संगीत के रहस्य से भी अवगत थे। आचार्य वल्लभ के मुख्य गायक होने के कारण और स्वयं दृष्टिशक्ति से रहित रहने के कारण सूर को गीत की अनन्य माधुरी में मग्न होने के अवसर यों ही सुलभ थे किंतु वे तो उच्च कोटि के भक्त और कवि भी थे। जब बिहारी जैसे केवल कलामर्मज्ञ के हृदय को 'तंत्री-नाद कवित्त-रस' का आस्वाद मिल चुका था तब सूर को वह कितना अधिक नहीं मिला होगा! कवि ने इस प्रसंग को लेकर इतनी अनेक अनेक नवीन उद्भावनाएँ की हैं कि इस विषय में शंका नहीं होती कि वह संगीत के रस में सराबोर तो था ही, वंशी की उस ध्वनि से भी पूर्ण परिचित था जो नाम-रूप से भगवान् का आख्यान करने में लगी हुई है। यह बाँस की बाँसुरी इतना महत्त्व अधिकृत कर ले कि स्वयं कृष्ण इसके वश में हो जाएँ, फिर यह जैसे चाहे उन्हें नचाए, अपने सामने गोपिकाओं की भी, जो कृष्ण की प्राण थीं, अवहेलना कराए, वह असाधारण बाँसुरी रही होगी। नाम की महिमा बहुतों ने कही है, स्वयं तुलसीदास ने उसके वर्णन में बड़ी तन्मयता का प्रदर्शन किया है, परंतु सूर ने कृष्ण की वंशी को

नाम का प्रतीक मानकर काव्य-जगत् में एक दूसरे ही प्रकार की परम रमणीय सृष्टि की है। तुलसीदास ने तो राम के नाम को स्वयं राम से बढ़कर माना है परंतु उनके नाम-गुण-गान में केवल विश्वास करना पड़ता है; स्वतः हम पर अधिकार कर वह अपना परिचय करा दे ऐसी बात कम ही है। तुलसीदास को नाम-माहात्म्य कहने में तर्कशैली का आश्रय लेना पड़ा है, जैसे—

राम एक तापस-तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
रिषि हित राम सुकेतु-सुता की। सहित सेन-सुत कीन्ह बिबाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रबि निशि नासा॥
भंजेउ राम आप भवचापू। भव-भय-भंजन नाम-प्रतापू॥
... ...

नाम-प्रसाद संभु अविनाशी। साज अमंगल मंगल रासी॥

परंतु यह तर्क-शैली विशेष रूप से पुष्ट नहीं है क्योंकि नाम की जो कुछ महिमा उक्त पदों में कही गई उसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। कौन जानता है कि नाम के प्रसाद से ही 'कोटि खलों की कुमति सुधरी' है और 'शिवजी अमंगल साज धारण कर भी मंगलराशि' बने हुए हैं?

सूर की वंशी इस दृष्टि से अधिक प्रभावशालिनी हुई है। एक तो वह संगीत की सृष्टि करती है जो स्वयं ही परम मोहक है। फिर कृष्ण अपने अधरों पर धारण कर उसे जो सम्मान देते, उसके सामने अन्यों की जो सुध बिसार देते, उसके लिये एक पैर से खड़े रहकर जो अनुराग दिखाते हैं, वह सब प्रत्यक्ष वर्णन द्वारा हम पर विशेष प्रभाव डालता है। तुलसी के नाम की महिमा तो अनिश्चित है किंतु सूर की वंशी की महिमा आँखों के सामने दिखाई देती है। तुलसी का नाम-माहात्म्य भक्तों के लिये मान्य है परंतु सूर की वंशी-ध्वनि अधिक व्यापक क्षेत्र में अधिक सरल रीति से अधिक स्पष्ट प्रभाव दिखाती है।

परंतु यह प्रश्न यहाँ अवश्य उठता है कि वेणु-गीत संबंधी ये सूर के पद भगवान् के नाम का ही लक्ष्य रखते हैं, इसका प्रमाण एकमात्र

वल्लभाचार्य की उक्त व्याख्या ही मान ली जाय । सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य अवश्य थे परंतु जिन्हें यह ज्ञात नहीं है, अथवा जो आचार्य की उक्त व्याख्यासे परिचित नहीं हैं, वे क्या सहज ही इस अर्थ तक पहुँच सकते हैं ? तुलसीदास ने तो स्पष्ट शब्दों में नाम का माहात्म्य कहा है परंतु सूर तो लक्षणा द्वारा ही इस प्रकार का बोध कराते हैं । तो क्या सूर की यह प्रणाली तुलसी की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट नहीं ?

बात यह है कि कविता की दृष्टि से सूर के मुरली संबंधी पदों का लाक्षणिक अर्थ आवश्यक नहीं है । जिस रूप में उन्होंने वंशी का परिचय दिया है और उसके प्रति गोपिकाओं की असूया आदि भाव दिखाए हैं वह यों भी सत्काव्य का रूप है । कोरे बाँस की बाँसुरी, जिसमें छेद ही छेद हैं, कृष्ण की इतनी प्रिय बन जाय और प्रिय बन-कर चराचर पर अधिकार कर ले, इससे जिन रहस्यों का संकेत होता है वे स्वयं ही सरस रहस्य हैं । इन्हीं का आधार लेकर भक्तगण लाक्षणिक अर्थ तक पहुँचते और द्विगुणित आनंद उपलब्ध करते हैं । किंतु कविता के सामान्य रसिक भी इसका सुरस ले सकते हैं ।

भक्त जनों के लिये तो तुलसीदास की नाम-महिमा और सूर की मुरली-माधुरी दोनों में ही समान स्वाद है परंतु काव्य के विचार से लोग सूर के इन पदों को अधिक पसंद करेंगे । सूर की वंशी में नाम की महिमा अधिक सुरीली होकर व्यंजित होती है । नाम का सौंदर्यपक्ष इसमें अधिक खिला है । तुलसी के नाम-गुण-गान में निश्चल उद्गारों का एक स्वच्छ प्रवाह है और विश्वास की ऐसी लयकारी तरंग है जो बिना सूचना दिये ही अपनी ओर खींच लेती है किंतु सूर की वंशी-ध्वनि में वह मोहिनी लय है जिसमें स्वेच्छा से ही जीव लय हो सकते फिर स्वेच्छा से तन्मय हो सकते हैं ।

लक्षणा से जब वंशी भगवान् के नाम की प्रतीक है तब वह एक प्रकार की प्रतिमा बन गई जो नाम का द्योतन करने लगी । सूर

ने इस प्रतिमा को ऐसा सुंदर अंकित किया है कि इसमें किसी प्रकार का जड़त्व बोध नहीं होता—परंतु प्रभाव इसका प्रतिमा के रूप में ही पड़ता है। तुलसीदास ने नाम को इस प्रकार प्रतिमा बनाकर उपस्थित नहीं किया वरन् उसको अप्रतिम, विराट रूप देने का प्रयत्न किया है। साहित्य और कलाओं में इन दोनों विधियों का अलग अलग महत्त्व होता है। जिन्हें सुंदर अलंकृत प्रतिमाएँ अच्छी लगती हैं, वे सूर के पदों को अधिक पसंद करेंगे परंतु जिन्हें सुंदरता के सीमित रूप की अपेक्षा, विस्तृत अरूप भावनाओं से रुचि है वे तुलसी के नाम-माहात्म्य की ओर अधिक आकृष्ट होंगे। शुद्ध कविता की दृष्टि से लोग सूर के वेणु-गीत का, किंतु उच्च दर्शन के विचार से तुलसी के नाम-गुण-गान का अधिक आनंद उठा सकते हैं। तथ्य दोनों में एक किंतु रूप भिन्न भिन्न है।

कलाओं के निर्माण में तो रूप और अरूप, प्रतिम और अप्रतिम दोनों का स्थान होता है। सभी देशों में कुछ काल ऐसे हुए हैं जब सीमा में—प्रतिमा में—असीम सौंदर्य भरने की चेष्टा मनुष्य ने की है, ऐसे ही कुछ काल और हुए हैं जब अपनी सीमित सौंदर्य-भावना को असीम में फैला देने की चेष्टा की गई है। इन उभयविध चेष्टाओं में कला का किस प्रकार विकास हुआ है, यह तो विस्तृत विवेचन का विषय है जिसके लिये यहाँ स्थान नहीं है। परंतु यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि महाकवि सूर ने दोनों प्रकार की चेष्टाएँ की थीं, यद्यपि प्रथम में उनकी अधिक रुचि थी, अतः सामर्थ्य भी अधिक सिद्ध हुआ।

एक पाइ = एक पैर पर; कष्ट के साथ। कोमल तन आज्ञा कर-वावति=कृष्ण के सुकुमार शरीर से अपनी आज्ञा का पालन कराती है। कनौड़े = क्रीत दास; गुलाम। नार = ग्रीवा; गरदन। नवावति = झुकवाती है। आपुन पौढ़ि......पलुटावति = स्वयं कृष्ण की अधर शय्या पर सोती और उनसे अपना शरीर पलोटवाती है। इन पर = गोपिकाओं पर।

पद ५३—मोहिनी = मोहिनी शक्ति; मंत्र-शक्ति; जादू। भोरि = विभोर कर रखा है; भुला रखा है। राग = अनुराग; प्रेम।

पद ५४—इंद्र की पूजा मिटाई = इसके पहले ब्रज में इंद्र की पूजा होती थी जिसका कृष्ण ने निषेध कर दिया। बैरा = बातचीत; अफवाह।

पद ५५—रीती = खाली। सुरति = याद; स्मृति। ररैं = रट लगाती हैं; कृष्ण की ही चर्चा करती हैं।

पद ५६—कोउ माई लैहै री गोपालहिं = गोपिकाएँ यह कहकर दही बेचना भूल गई हैं कि 'कोई दही ले ले'। वे तो दही के बदले भी कृष्ण का नाम लेकर पुकारती हैं कि 'कोई कृष्ण को लेगा'? रसालहिं = रस भरी बातें। तक्र = मट्ठा। बरजति = मना करती है। बेहालहिं = बेसुध; कृष्ण की सुध में तन की दशा भूली हुई।

पद ५७—अब तो प्रगट भई जग जानी = कृष्ण के प्रति अपनी प्रीति अब प्रकट हो गई; संसार जान गया। छानी = छिपी। कहा करौं = कैसे क्या करूँ; रोकते नहीं बनता। रोम रोम उरझानी = रोम रोम से उलझ गई हूँ; फँस गई हूँ। निरवारी = अलग करना; पृथक् करना। सूरदास-प्रभु......जानी = अंतर्यामी कृष्ण मेरे मन का हाल जानते हैं कि इस प्रेम-व्यापार में मेरा कुछ अपराध नहीं है। बरबस ही यह ऐसा हो गया है।

पद ५८—धर = धरा पर; पृथ्वी पर नीचे। तट भुजदंड = कृष्ण की दोनों भुजाएँ उस मोती की माला रूपी 'सुरसरि' के दोनों तट हैं। बर-तीछन-जोति-सुता = सूर्यकन्या; यमुना। नीकैं = अच्छी तरह से; पूर्ण रीति से। मध्य-धार-धारा = गंगा यमुना के बीच की धारा; सरस्वती की धारा।

पद ५९—सरित = दृष्टि की सरिता। मिति = थाह; सीमा। लोभ-लहर-कटाच्छ = प्रेम या लालसा के तरंग-कटाक्ष से। घूँघट-पट-करार = संकोच या लज्जा ढह गई; दूर हो गई। थके पल-पथ......

फेरिहू न चही = आँखें स्वभाव से ही श्याम में मिल गईं, अब फिरकर (जगत् की ओर) देख भी नहीं सकतीं। थकित हैं तथापि धीरज की नाव पर बैठना अब संभव नहीं है।

पद ६०—तरनि-ताप-तलफत-चकोर-गति = सूर्य के ताप से तप्त चकोर पक्षी की भाँति। पियूष = चंद्रमा का अमृत। रितु फाग = वसंत ऋतु में। सक्र-धनु = इंद्र-धनुष। बैराग = अभाव का अनुभव करना। कुंचित केस = घूँघरवाले; छल्लेदार बाल। सुमन सुपाग = सुंदर पगड़ी; पुष्पों का शिरोभूषण पहने हैं। अधरबिंब तें...... बरषन लाग = मनोहर अरुण अधरों से कृष्ण मुरली की ध्वनि कर रहे हैं, मानो श्याम घन व्रज को घेरकर सुधा का समुद्र बरस रहा है। सरद-तड़ाग = शरद् के स्वच्छ तालाब में। चिबुक चारु चित-खाग = सुंदर ठोड़ी चित्त में चुभनेवाली है।

पद ६१—कुंडल मकर......रैनि बिहाने = मकराकृति (सुवर्ण) कुंडल कपोलों के पास ऐसे शोभित हैं जैसे प्रातःकाल का रवि। दुज = द्विज; दाँत। कोटि = पंक्ति। बज्र-दुति = हीरे की चमकवाले।

पद ६२—मनसि बचसि = मन और वचन में। दुरत फिरत मनोज = कामदेव भी छिपता फिरता है। ईषद = ईषत्; थोड़ा; स्मित।

पद ६३—मरतक = पन्ना। कलेवर = वस्त्राभूषण। मनौ...... सुबास = श्याम का शरीर घटा के समान है जिस पर मणिरत्न रूप में प्रातःसूर्य का प्रकाश हो रहा है। उनके पीत वस्त्र मानो उस घटा के बीच चमकनेवाली दामिनी है। सुबास = सुंदर वस्त्र। मनौ...... बगराइ = मानो नील मणि के डब्बे में मोती रखे हों, जिन पर (लाल) रोली छिड़की गई हो। बंधूक = दुपहरिया का पुष्प।

पद ६४—अपबस = अपने वश में। कह्यौ होइ कछु तेरौ = तेरा कहा भी कुछ हो। इकटक रहैं......नई चलाऊँ = ऐसी नई प्रणाली निकालूँ कि आँखें एकटक, अपलक कृष्ण की ही छवि देखा करें।

कहा करौं.....सुनाऊँ = श्यामघन की (अपार) छवि-राशि को देखने के लिये दो आँखों का ठिकाना नहीं लगता (बहुत कम है) फिर ये दो आँखें भी मुँदती रहती हैं—एकटक नहीं रह पातीं; यह दुःख किसे सुनाऊँ !

पद ६५—इन नैननि कै भेद = इन आँखों का आपस में भेद (झगड़ा) कराकर; होड़ कराकर। सुपन = स्वप्न। निसि-खग = रात्रि में उड़ते हुए पक्षी। अपनें बल = अपनी ही हठ से। मुरझ्यौ मदन जगायौ = जो वासना मूर्च्छित पड़ी थी उसे फिर से जगा दिया।

पद ६६—भोरी = भोली; सीधी-सादी। कानि = संकोच; लिहाज। गुड़ी बस डोरी = डोरी के वश में गुड्डी की भाँति फिरती रही। अँजोरी = चाँदनी में; उजाले में।

पद ६७—बकसाऊँ = क्षमा-प्रार्थना करूँ। गाढ़ैं करि = जोर देकर; विशेष आग्रह के साथ। रुचि = प्रीति। भुजनि भरि = बाहुओं में भर कर। उर की तपति = मन का ताप; हृदय का ताप। यह प्रकट करूँ कि मेरा हृदय उस घटना से कितना संतप्त है।

पद ६८—छीरोदक = दही। हातौ करि = दूर कर; अलग कर। कलंक पखारि = कलंक धोकर; मिटाकर। मुक्ता.....जुहारि = शीश पर मोतियों से जड़ित माँग ऐसी राजती है मानों तारों के गण नवीन शशि का आगमन सुनकर उसे सादर भेंटने आए हों। मृगमद = कस्तूरी। बँधूक-कुसुम = दुपहरिया का लाल फूल। कीर = सुग्गा; नाक से इसकी उपमा दी जाती है। बेसरि = नाक में पहनने की नथ। झाईं = छाया। मँझारि = बीच में। सुरगुरु, सुक्र, भौम, सनि = इनका रंग क्रमशः पीत, श्वेत, रक्त और श्याम माना जाता है। तरिवन = कान में पहनने का आभूषण। सीमंत = माँग। भयौ द्विधा तम हारि = अंधकार हारकर दो टुकड़े हो गया।

पद ६९—जे लोभी ते देहिं कहा री = जो लोभी हैं वे क्या दे सकते हैं ? आँखें कृष्ण के रूप की लोभी हैं अतः वे हमें क्या सुख

दे सकती हैं? मन अपनैं......हमारे = मन चाहे अपने वश में हो जाय, ये लोचन कभी अपने नहीं होंगे। कोटि करौं...गीधे रूप अपार = कितना भी करूँ वे मुझे नहीं मानते (मेरी परवा नहीं करते); कृष्ण के रूप-लावण्य में अनुरक्त हो गए हैं। सूर स्याम...साध = यदि श्याम इन्हें कभी कष्ट दें (दर्शन न दें) तो मेरी साध पूरी हो; मेरी इच्छा-पूर्ति हो।

पद ७०—हरि रीझे = अनुकूल होकर प्रसन्न हुए। इनहिँ बिना वे उनहिँ बिना ये = आँखों को कृष्ण और कृष्ण को आँखों के बिना। अंतर नाहीँ भावत = अलग रहना नहीं भाता। यह जुग की महिमा इ० = समय की यह महिमा है कि टेढ़े की टेढ़ाई का फल शीघ्र मिल जाता है।

पद ७१—लोचन टेक परे सिसु जैसे = बालकों की भाँति नेत्रों ने जिद पकड़ ली है। खोज परे हैँ नैसेँ = तन्मय होकर, निष्ठा के साथ खोजने में लग गए हैं। आपुन ही = आप ही; अकेले ही। जैसे तैसेँ = कठिनाई के साथ।

पद ७२—टेव = आदत। हटकि हटकि = मना करके। होतिँ खरी = ध्यान में स्थित रहती हैं। नग-अंग = पर्वत का सा अंग। मंदराचल पर्वत जो समुद्र में है जिससे चौदह रत्न समुद्र-मंथन के अवसर पर निकले थे। निधि सिगरी = संपूर्ण निधि को।

पद ७३—अब वै...हरि पाँति = अब तो मेरी आँखें (मेरा ध्यान) मुझे देखने से लज्जा सी करती हैं और कृष्ण के साथ एक पंक्ति में जा बैठती हैं। अनत नहीँ पतियातिँ = दूसरी जगह उन्हें विश्वास नहीं जमता।

पद ७४—सभागी = सौभाग्यवती। उपजी बुरी बलाइ = बुरी व्याधि (मुरली के रूप में) उत्पन्न हुई है, सावधान क्यों नहीं होतीं? कीन्ही सौति बजाइ = कृष्ण ने इसे खुल्लमखुल्ला हमारी सौत बनाकर रखा है।

पद ७५—ठगौरी=जादूगरी। ढीठि=निर्लज्ज। अधिकाई=जबरदस्ती। मुँह लागी = मुँहलगी हो गई है; प्रिय हो गई है; धृष्ट हो गई है। स्याम कौं बिबस=श्याम को बेबस अपनी ओर कर लेती है।

पद ७६—त्रिभंग = तीन भंगिमाओं से युक्त; मुरली बजाने की कृष्ण की मुद्रा। बस्य पुहुमि सारी = सारी पृथिवी वश में हो जाती है। थावर...जड़ जंगम = जो स्थावर हैं वे चलने लगते और जो जंगम हैं वे स्थिर हो जाते हैं। सरिता उलटे प्रबाह = सरिता प्रवाह उलट देती है। स्वेद गए ह्वै पपान = पत्थर भी पसीज गए। डोंगर = छोटी पहाड़ियाँ। उकठे...जात = सूखे पेड़ों में पत्ते लग गए; पत्थर पर कमल उत्पन्न हो गया। आरज पथ......नर नारी = उत्कंठित होकर स्त्रियों और पुरुषों ने आर्य-आचरण (पतिव्रत आदि) और संबंधों का त्याग कर दिया।

पद ७७—अछय...ततराइ=अक्षय निधि (कृष्ण) को जिसने लूट कर ली है वह अकड़कर क्यों नहीं चलेगी ? आदि = उत्पत्ति से; आरंभ से।

पद ७८—बाँस-बँसुरिया = बाँस की (निकृष्ट) वंशी। रंध्र-चरन = वंशी के छेदों रूपी चरण।

पद ७९—आजु महा चढ़ि बाजी वाकी=आज उसकी बड़ी चढ़ी-बढ़ी है। जोइ जोइ...बिराजै=जो कुछ करे शोभा देता है। गाजै=(नाद करती हुई मानो) गर्जती है। स्यामहिँ ढीठि=श्याम ने ही ढीठ कर दिया है। ब्रज=ब्रज-मंडल जो नागरिकों का स्थान है।

पद ८०-८१—इन दोनों पदों में मुरली का पक्ष-समर्थन किया गया है। वह योंही कृष्ण को प्रिय नहीं बन गई है, इसके लिये उसे बड़ी तपस्या करनी पड़ी है। षड्ऋतुओं भर वह एक पैर पर खड़ी ग्रीष्म-वर्षा-शीत के कष्ट सहती रही है। फिर वह धूप में सुखाई गई, अग्नि-शलाका से वेध (छेद) करते हुए हिचकी नहीं, अग्नि-परीक्षा में सफल हुई है। यदि इतनी तपस्या और कोई करे (गोपिकाएँ ही करें) तो वह भी कृष्ण की प्रिया बन जाएँ।

पद ८२-८३—यह वर्णन कृष्ण की रासलीला का है। रास एक मंडलाकार नृत्य का नाम है जिसमें बहुत सी नर्तकियाँ भाग लेती हैं। प्रत्येक प्रकार के नृत्य एक विशेष उद्रेक के प्रतिफल होते हैं, रास तन्मयता के प्रबल उद्रेक का प्रतिफल माना गया है। गोपिकाएँ कृष्ण में इतनी तन्मय हो उठी हैं कि वे उनसे वियुक्त एक क्षण भी नहीं रह सकतीं। कृष्ण के रूप पर वे कितनी मुग्ध हैं यह ऊपर के पदों में देख ही चुके हैं। आकर्षण का यही विकास अपनी चरम अवधि में रास का रूप धारण करता है। वे सब शरत्समय की एक चांदनी रात को कृष्ण की वंशी सुनकर उत्कंठित हो उठीं, अपने को सँभाल न सकीं, सब अपने-अपने काम-काज छोड़कर दौड़ पड़ीं। भागवत में इस अवसर की विस्तृत कथा है। कृष्ण ने गोपियों को पहले मना किया। उन्हें समझाया कि परिवार का लालन-पालन, पति की सेवा, ये ही गृहिणियों के उत्तम धर्म हैं। इन्हें छोड़कर अन्य का सेवन कुलकामिनियों के लिये उचित नहीं है। इस भयावह कार्य से अयश मिलेगा। तुम्हें अपने-अपने घर जाकर अपना-अपना गृह-कार्य करना चाहिए और यदि मुझसे प्रीति है तो घर में मेरा ध्यान करो, मेरा कीर्तन करो, उसमें इतना अधिक सुख पाओगी, जितना मेरे समीप रहकर यहाँ नहीं पा सकतीं।

गोपियों ने स्पष्ट उत्तर दिया कि हम तो लोक-परलोक की परवाह नहीं करतीं, इतने दिन आप के लिये हमने धर्म-कर्म सब का पालन किया और अब आप ही ऐसी बात कहते हैं। क्या वर्णाश्रम धर्म, आचार-विचार और कर्म के सब विधान आपके पाने के लिये ही नहीं हैं? क्या आपके मिल जाने पर भी वे सब बने ही रहते हैं? हम तो ऐसा नहीं समझतीं। किंतु आप यदि आज्ञा देते हैं कि हम आपको छोड़कर चली जाएँ तो कृपया आप हमें इतनी शक्ति भी दीजिए कि हम अपने पैरों को आपसे विमुख होकर चलने की प्रेरणा कर सकें। वह शक्ति भी तो हममें नहीं है।

तब जैसे तारिकाओं से घिरे हुए शशांक दीप्तिमान् होते हैं वैसे ही उत्फुल्लमुखी गोपिकाओं से परिवेष्टित कृष्ण की रासलीला आरंभ हुई।

कृष्ण की रासलीला के संबंध में भी अनेक प्रकार के संशयात्मक प्रश्न किए जाते हैं, परंतु अधिकांश प्रश्न करनेवाले संगीत, नृत्य आदि कलाओं के रहस्य से परिचित नहीं होते। संगीत की ही भाँति नृत्य भी तन्मयता का साधन है। जीवन की भिन्न भिन्न जटिल समस्याओं से चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास, विषमता के ऊपर साम्य स्थापित करने की चेष्टा एक ऐसी संगीतमय स्थिति को उपस्थित करती है जो शांति और आनंद का कारण होती है। भारत के दार्शनिक ने तो प्रलय में भी लय का अनुसंधान किया जिससे प्रलयंकर का तांडव भी नृत्य की कोटि में परिगणित हो सका। विचार करने से यह सबको अनुभव होगा कि संगीत और नृत्य का यह रूप जीवन की विशेष उन्नत साधनाओं का प्रतीक है। कलाओं को जब इस दृष्टि से देखा जाय तब उनका मर्म ग्रहण किया जा सकता है और तब नृत्य और संगीत के उस प्रचलित रूप की निकृष्टता भी समझ में आ सकती है जिसके कारण बहुतों को कला-मात्र से विरक्ति होने लगी है। जो लोग कृष्ण की रासलीला का यह कहकर विरोध करते हैं कि कृष्ण को नट बनकर यह निम्न आदर्श समाज के सामने न रखना चाहिए था वे नृत्य के वास्तविक रहस्य को पहले समझ लें।

परंतु भागवत-मत के अनुसार नृत्य (रास) जीवन का केवल एक परिमार्जित विकास ही नहीं है, वह तो जीवन की सभी साधनाओं की अंतिम सिद्धि भी है। गोपिकाओं ने जन्म भर आचारनिष्ठ रहकर पूर्ण, धर्माचरण करने के उपरांत मानो उसी धर्मचर्या के अंतिम निष्कर्ष के रूप में कृष्ण के साथ रास रचा है। इसका यही अर्थ है जो गोपिकाएँ कृष्ण से निवेदन भी कर चुकी हैं कि संसार के सब आचार उसी के निमित्त हैं और उसके मिलते ही सब छूट जाते हैं। मनुष्य जो दुनियादारी में पड़कर माया का बंधन स्वीकार करता है वह भी इसी

हेतु से कि एक दिन इससे छुटकारा मिलेगा। मनुष्य के लौकिक धर्म-कर्म निमित्त मात्र हैं, इस निमित्त के अंतःकरण में जो चरम ध्येय निहित है वही मानो कृष्ण और गोपिकाओं के रास के रूपक (लीला) से प्रकट किया गया।

इस विचार से रास को पूर्णतः आध्यात्मिक रूप मिल जाता है जिसका और अधिक स्पष्टीकरण भी भागवत में किया गया है। गोपिकाएँ कृष्ण के साथ तन्मय होकर विहार करती हैं मानो जीव अपने सब बंधनों से मुक्त होकर अपने स्वरूप (कृष्ण) को पहचानता है और उसी आनंद में विभोर होकर क्रीड़ा करता है। वहाँ कृष्ण और गोपिकाएँ दो नहीं रहीं, एक ही हो गईं। भागवत में इस एकता पर टिप्पणी करते हुए लिखा गया है कि जैसे बालक अपने प्रतिबिंब को लेकर क्रीड़ा करता है वैसे ही भगवान् रमापति ने हास्य-आलिंगनादि द्वारा ब्रज-सुंदरियों के साथ क्रीड़ा की थी, आत्माराम होते हुए भी उन्होंने अनेक रूप करके प्रत्येक गोपी के साथ पृथक् पृथक् विचरण किया था। यह खेल ईश्वर ही कर सकते हैं; कोई भी मनुष्य इसका अनुकरण कदापि नहीं कर सकता।

यों तो कला-विवेचन की साधारण दृष्टि से भी नृत्य आदि कलाएँ अपने मौलिक रूप में कामोद्दीपक नहीं हैं, वरन् सात्त्विक आनंद के सहज उद्रेक से इनकी उत्पत्ति होती है और ऐसे ही आनंद की निष्पत्ति भी ये करती हैं, किंतु श्रीमद्भागवत में तो इन्हें नितांत आध्यात्मिक और अलौकिक स्वरूप दिया गया है। भक्तवर सूरदास की भावना भी भागवत की भाँति ही दिव्य माननी चाहिए।

नृत्यत = नाचते हुए। सुधंग = विन्यासपूर्वक; ढंग-समेत। वरनत वरनि न जाइ = इस प्रकार की उक्तियों द्वारा गोपी और श्याम का रूप और उनकी यह क्रीड़ा और भी अलौकिक हो उठती है। जैसेइ बने स्याम तैसीयै गोपी इ० = गोपी (आत्मा) और श्याम (परमात्मा) की अभिन्नता का सुंदर रूपक है "द्वा सुपर्णा सयुजा

सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।" अर्थ यह है कि एक वृक्ष पर सदा साथ रहनेवाले, एक दूसरे के मित्र, दो पक्षी वास करते हैं । उनमें एक (आत्मा) मीठे फल खाता है और दूसरा (परमात्मा) बिना खाए देखता रहता है । ऐसे ऐसे अनेक चित्र भारतीय दर्शन-ग्रंथों में, बड़ी संख्या में, मिलते हैं । पैंजनि = पैंजनी; झन झन ध्वनि करनेवाला पैर का एक आभूषण । बिछिया = पैर की अँगुलियों में पहनने का भूषण । रास-रसज्ञा = रास (नृत्य) का रस जाननेवाली । मानौ माई घन-घन-अंतर दामिनि = इस प्राकृतिक उत्प्रेक्षा से रास-लीला का रूप आँखों में अच्छी तरह खिंच जाता है । जमुन-पुलिन = यमुनाजी के तट पर । मल्लिका = बेला पुष्प । रूप-निधान......विस्रामिनि = गोपिकाएँ, जो रूप-निधान आनंदघन कृष्णचंद्र के मन को विश्राम (तृप्ति) देनेवाली हैं । भाइ-भेद = भाव-भेद । को गति गनै......कामिनि = नृत्य की गति का गोपिकाओं को ध्यान नहीं रहा, वे कृष्ण में इतना लीन हो रही हैं ।

पद ८४—इस पद का यहाँ प्रसंग नहीं है । कहते हैं, यह सूर का अंतिम गीत था । अतः इसे सूरसागर के अंत में होना चाहिए किंतु अधिकांश प्रतियों में यह यहीं मिलता है ।

पद ८५—कृष्ण की व्याकुल आसक्ति का चित्र है । गोपी के चंचल नयन-कटाक्ष से कृष्ण विह्वल हो उठे हैं, जैसे अंधड़ के कारण विशाल तमाल वृक्ष उखड़ पड़ा हो । चंद्रिका-मोर = मयूर चंद्रिका जो कृष्ण ने मुकुट में धारण की थी । खन बूड़त खनहीं खन उछरत = समुद्र में जैसे ज्वार-भाटा आता है तो कभी तरंगें नीचे डूब जाती कभी ऊपर चढ़ जातीं हैं । प्रेम-सलिल भीज्यौ पीरौ पट इ० = कृष्ण का पीत पट प्रेम के सलिल में भीग गया है । उसका अंचल-छोर निचोड़ने से फटने लगता है । (किंतु प्रेम-सलिल सूखता नहीं है ।)

पद ८६—सूर के इस पद से अँगरेज कवि शैली की Love's Philosophy नामक कविता बिलकुल मिल जाती है। शैली की इस कविता की अँगरेजी साहित्य में अच्छी प्रसिद्धि है यद्यपि यह बहुत छोटी है। इस कविता से सूर के इस पद में कम काव्य-चमत्कार नहीं है।

The fountains mingle with the river
And the rivers with the ocean
The winds of heaven mix for ever
With a sweet emotion.

... ...

See the mountains kiss high heaven,
And the waves clasp one another ;
No sister flower would be forgiven
If it disdained its brother.
And the sunlight clasps the earth
And the moon beams kiss the sea.
What are all these kissings worth,
If thou kiss not me ?

रूसिवे = मान करने की। जेती वेलि = जितनी लताएँ; सब लताएँ। डाहीँ = जली हुई। पूरन = (जल से) भरकर। बदरी की छाहीँ = बादल की छाया जो कभी पड़ती कभी मिटती है।

पद ८७–८८—इनका यहाँ प्रसंग नहीं है। इन्हें छोड़कर पढ़ने में हानि नहीं। सूरसागर की प्राप्त प्रतियों में ऐसे अप्रासंगिक पद मिलते हैं।

पद ८९—उपमा इक धावत = एक उपमा दौड़ती है; आप ही आप उत्पन्न होकर शीघ्रता और सहज भाव से सामने आती है। बिबि = दो। मुरलि-सुर पूरत = मुरली में स्वर भरते हैं। सुरभी = गाय।

पद ९०—कुंचित केस......ऐन = कृष्ण के शिर के कुंचित केश लटककर मुख के पास आ रहे हैं, मानो अलियों ने मुरली को श्याम का अधर-मधुपान करते देख अमर्ष से अपनी सेना सजाई है। भ्रकुटि......मैन = केशों की इस अलि-सेना की सहायता के लिये मानो कामदेव कृष्ण की भ्रुकुटि का धनुष लेकर आया है।

पद ९१—वसननि चितवनी झकझोर = वस्त्रों को देखकर दृष्टि चकाचौंध में पड़ जाती है। वरहि-मुकुट = मोर-मुकुट। इंद्र-धनु-छबि थोर = इंद्रधनुष की छवि भी अल्प है।

पद ९२—इसका भी यहाँ प्रसंग नहीं है।

पद ९३—रतनारे = लाल। टेँसू = एक लाल फूल जो वसंत में खूब फूलता है। मौरे = बौर लगे हैं। परिमल-भूले = सुगंधि में डूब गए हैं। चोवा चंदन अबिर कुमकुमा = सुगंधि-द्रव्य और लेप। चौहटेँ = चौराहे पर। झूमक = एक प्रकार का गीत जो स्त्रियाँ होली के दिनों में झूम झूमकर गाती हैं।

पद ९४—यहाँ से गोपिकाओं का वियोग-वर्णन आरंभ होता है। श्रीकृष्ण कंस का बुलावा पाकर ब्रजभूमि से मथुरापुरी चले गए। जाते समय उन्होंने कहा था कि वे शीघ्र ही लौट आएँगे; इसी आसरे सारे गोप-गोपी बहुत दिनों तक उनकी प्रतीक्षा करते रहे; इस आशा में कि वे आने को कह गए हैं तो आवेंगे अवश्य। परंतु जब बहुत दिन हो गए और कृष्ण न आए तब उनकी बेचैनी बढ़ी और उन लोगों ने मथुरा जानेवाले पथिकों के हाथ अपने संदेश भेजे और उनका संवाद मँगाया। यशोदा ने भी संदेश भेजा; गोपियों ने भी भेजा। पर किसी का कोई उत्तर नहीं आया। इससे समस्त ब्रज-मंडल में और उत्कंठा बढ़ी। पथिकों का मथुरा से उस राह आना-जाना भी कठिन हो गया क्योंकि संदेशों की संख्या बढ़ चली और हाल-चाल पूछनेवालों का ताँता बँध गया। व्रजवासी जब सब प्रकार से निराश हो गए तब उनका दुःख भीतर ही भीतर उनकी आत्मा को

घेरने लगा। गोपों के बालक पेड़ों पर चढ़कर दूर तक कृष्ण की राह देखते, गोपियाँ अपना असह्य संदेश पक्षी, पवन, मेघ आदि द्वारा भेजने का प्रयास करतीं। ये सब उपाय भी व्यर्थ हो गए। तब तो गोपियों के अश्रुजल से उस प्रदेश में दुःख की सरिता बह निकली। गोपाल-बाल बिना अन्न-जल के दिन व्यतीत करने लगे; गायों ने दुःख से रँभाना आरंभ किया। जड़ प्रकृति भी एक बार शोकातुर और म्लान हो उठी। यमुना कृष्ण के वियोग में नीली पड़ गई, कुंजें एकांत में दीर्घ उच्छ्वासें लेतीं, बेलियों की आँखें भर आईं, हाट-बाट सब शून्य।

उधर कृष्ण ने रंगभूमि में कंस का वध किया और प्रजा द्वारा वे राजपद पर अभिषिक्त किए गए। राजकाज के उत्तरदायित्व के कारण उनका अधिक समय उसी में व्यतीत होने लगा। यह भी कथा है कि कंस की एक कुरूप कूबरी दासी कुब्जा से प्रसन्न होकर कृष्ण ने गोपियों की सुध-बुध खो दी थी। कृष्ण के जीवन की धारा अब गोप-गोपियों के विनोदमय उपकूलों पर कल कल छल-छल न करती हुई, अधिक गंभीर और अधिक प्रशांत होकर बह रही थी। परंतु प्रश्न तो यह था कि कृष्ण के जीवन के साथ गोप-गोपियों का जीवन कैसे बदल जाता? वे तो अपनी उसी वनस्थली में उन्हीं स्मृतियों को साथ लिए समय वाहित कर रही थीं। कृष्ण महाराज हो गए थे तो क्या हुआ, यशोदा के लिये तो वे वही 'कुँअर कन्हैया' और गोपियों के लिये तो वे ही नटराज थे। तब समस्या यह खड़ी हुई कि कृष्ण क्या उपाय करें जिससे उधर उनके लोकोत्तर चरित का भी विकास हो इधर ब्रजवासियों का भी समाधान हो।

मधुर भाव से कृष्ण की उपासना करनेवाले कवियों और गायकों के सामने भी यह समस्या उपस्थित थी, और सूर के सामने भी, कि आगे कृष्ण-काव्य की कौन सी दिशा बदली जाय। अब तक कृष्ण के साथ ब्रज के निवासियों ने जो रंगरेलियाँ की थीं उनकी एक प्रकार से हद हो चुकी थी। अब यदि कंस का वध करके फिर कृष्ण ब्रज लौट आते

अथवा बीच बीच में ब्रज-मंडल में दर्शन दे जाते तो इससे न तो काव्य को कोई विशेष चमत्कार प्राप्त होता न जीवन के किसी नवीन पक्ष पर प्रकाश पड़ता। भक्तों की भावना भी इतनी क्षुद्र नहीं थी कि संयोग-सुख में ही उन्हें तृप्ति मिलती। जो कृष्ण अभी उस दिन तक ब्रज में अपनी ललित लीलाओं के द्वारा जन जन में नवीन प्राण, मन मन में नवीन उमंग भर रहे थे, आज यदि वे वहाँ फिर आएँ और आकर बस जाएँ तो अच्छा; या वहाँ न आकर अपने वियोग में वहाँ के एक एक हृदय की मर्म-कथा, एक एक कंठ के उत्कंठित उद्‌गार सुनने का अवसर दें तो अच्छा? कवियों और संतों ने मिलकर निर्णय किया है कि दूसरी बात अधिक अच्छी है, और स्वयं कृष्ण का भी यही निर्णय हुआ है।

परंतु कृष्ण गोपियों की अवमानना करके उन्हें छोड़ तो सकते नहीं थे। उनके प्रति उनका उमड़ता हुआ अनुराग तो कभी सूख नहीं सकता था। कोई भी अपने प्रियजन को बिसार नहीं सकता फिर कृष्ण ऐसे प्रेमी गोपिकाओं जैसी प्रेमिकाओं को कैसे बिसार देते? वे इसी चिंता में निमग्न थे कि उन्हें ऊधो नामक एक ब्रह्मज्ञानी महापुरुष मिल गए। ये कृष्ण के सखा कहे जाते हैं पर इन्होंने कृष्ण के प्रेम-कातर स्वभाव को कितना पहचाना था यह कोई नहीं कह सकता। जब कृष्ण ने इनसे गोपियों की कथा कही तो इन्होंने कृष्ण से कहा कि यदि आप कहें तो मैं ब्रज जाकर उन सबको समझा आऊँ कि आपके पीछे हैरान न हों, निर्गुण निराकार ब्रह्म का ध्यान आरंभ करें। जिस व्यक्ति ने ऐसी बात कही वह न केवल हृदय-हीन होगा; शास्त्रों के यथार्थ तत्त्व से अनभिज्ञ, शब्दों की माया में पड़ा हुआ, झूठे ज्ञान का प्रचारक भी होगा। उसने न सगुण ब्रह्म का स्वरूप पहचाना, न निर्गुण ब्रह्म का न उसने भगवान् के अवतार-रूप की महिमा समझी। किंतु कृष्ण से इनकी अच्छे अवसर पर भेंट हुई थी जिससे अंत में इन्हें सम्यक् रीति से बोध मिल गया।

सूर ने इस संपूर्ण प्रसंग को एक अत्यंत अनूठे विरह-काव्य का रूप दिया है जिसमें आदि से अंत तक व्रज की दुःख-कथा कही गई है। इस कथा के दो भाग हो जाते हैं। एक तो ऊधो के संदेश लाने के पूर्व की वियोग-कथा जिसमें विरह-दशा के प्रायः सभी वर्णन और विनय, उपालंभ आदि हैं; और दूसरा ऊधो तथा गोपियों का वार्तालाप जिसमें प्रेम की अनन्य तन्मयता ही सर्वत्र ध्वनित हुई है। इस वार्तालाप के संबंध में बहुत से लोगों ने अपनी अपनी धारणाएँ प्रकट की हैं जिनमें सबसे अधिक भ्रमपूर्ण यह है कि इसके द्वारा महात्मा सूर ने सगुण ब्रह्म का निरूपण और निर्गुण का खंडन किया है। एक और हास्यास्पद आलोचना जो इस विषय में की गई है, यह है कि सूर ने इसके द्वारा उस चिरकाल से चले आते हुए पाखंड पर प्रहार किया है जो पंडों, पुरोहितों और पुजारियों के प्रचार का प्रधान विषय रहा है, जिससे उनका गुरुडम का गढ़ ढहकर गिर पड़े। सार्वजनिक राजसत्ता (political democracy) के ही तौर पर सार्वजनिक पूजा या उपासना की पद्धति निकाली जानी चाहिए जो सर्व-जन-मान्य हो। ब्रह्म को व्यापक, अविनाशी आदि मानकर और व्यक्ति को क्षुद्र बताकर उसका विकास रोक देना जिन्हें इष्ट था, उन धर्माचार्यों के विरुद्ध सूर ने यह आंदोलन उठाया। इसके द्वारा गोपियों ने कृष्ण की पूजा का भाव प्रतिष्ठित किया—जो कृष्ण अपने समय के नेता के रूप में कार्य कर रहे थे और वास्तव में अपने उपकारी कार्यों के कारण पूज्य थे। जीवित कृष्ण को—लोक-कल्याण ही जिनका ध्येय था—छोड़कर अज्ञात के पीछे भटकते फिरने से कुछ लाभ नहीं है। इसी मर्म की शिक्षा उद्धव-गोपी-प्रसंग में दी गई है, यही उक्त आधुनिक आलोचकों की हास्यास्पद आलोचना का निष्कर्ष है।

समझना चाहिए कि वास्तव में सूर का आशय न तो निर्गुण ब्रह्म के विरुद्ध सगुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा करना था और न उन्हें पंडों, पुजारियों और पुरोहितों के विरुद्ध किसी प्रकार का आंदोलन उठाना था। यदि हमें सूर

की कविता के साथ न्याय करना है तो हम सबसे प्रथम प्रसंग को समझने का प्रयास करें। सूरसागर का काव्य कृष्ण की रासरचना करके उन्हें मथुरा भेज चुका है। आनंद की अंतिम अवधि के उपरांत अवसाद के दिन आए हैं। कृष्ण मथुरा से व्रज नहीं आते, न बहुत दिनों तक कोई संदेश ही भेजते हैं। यह गोपियों के पक्ष में कृष्ण की ऐसी निष्ठुरता है जो काव्य का विषय बन सकती है। यदि इस निष्ठुर परिस्थिति में गोपियाँ कृष्ण के बिना अपने को निरालंब पाती हैं और इस निरालंब दशा में भी वे दूसरे किसी का आश्रय नहीं चाहतीं, अंत तक कृष्ण की ही बन कर रहेंगी, चाहे जो हो जाय, तो यह कितनी बड़ी प्रेम की साधना नहीं है! वह प्रत्यय धन्य है जो निराश, पीड़ित, लांछित प्रेमिका के हृदय में अपने पूर्व-प्रेमी के प्रति जागृत रहता है; वह निष्ठा अभिनंदनीय है जो एक की होकर दूसरे का मुख नहीं देखती; वह व्रत वंद्य है जो मृत्यु का सामना करके अमर बनता है।

जो कृष्ण व्रजभूमि के इतना निकट रहते हुए भी वहाँ आने का नाम नहीं लेते वे किस 'निर्गुण' से कम हैं? जिन्होंने भोली-भाली गोपियों को प्रेम के पाश में बाँधकर फिर वियोग के पारावार में डाल दिया है उनकी निष्ठुरता की क्या 'अवधि' है? परंतु सूर का आशय निर्गुण, निरवधि ब्रह्म का खंडन करना तो था ही नहीं। वे तो कृष्ण की अलौकिक लोकलीला के साथ साथ गोपों का, गोपियों का, भक्तों का—स्वयं अपना—तादात्म्य स्थापित कर रहे हैं। संयोग की मधुर मुरली बजाने के बाद अब वे विरह के अश्रुजल से कृष्ण का अभिषेक करने चले हैं। किंतु वियोग की इस तप्त वायु में संभवतः संयोग से भी अधिक प्रेम और आनंद के परमाणु उच्छ्वसित हो उठे हैं। यह प्रेम और यह आनंद काव्य में दृश्य नहीं है अदृश्य रूप से ध्वनित है और यह उन कृष्ण के प्रति है जो पास ही मथुरा में रहते हुए भी 'अदृश्य' बन गए हैं। कौन कह सकता है कि गोपिकाएँ इस 'अदृश्य' की उपासिका नहीं थीं? कृष्ण तो एकाधार में सगुण और निर्गुण

दोनों हैं, कोई उनका निर्वचन करे फिर भी वे अनिर्वचनीय हैं। सूर के श्याम को जो इस रूप में नहीं पहचानते वे ही कह सकते हैं कि सूर ने निर्गुण-उपासना के विरोध में सगुणोपासना का संप्रदाय चलाया था।

पंडों, पुजारियों और पुरोहितोंवाले प्रसंग का क्या कहना है! परंतु खेद है, यह आधुनिक दृष्टि सूर को प्राप्त नहीं थी नहीं तो न जाने क्या कयामत बरपा होती! सार्वजनिक पूजा की कोई नई पद्धति सूर ने नहीं चलाई; वह तो आजकल के समाजों में चलाई जाती, जिसके अनुयायी एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे समाज का आश्रय लेकर 'सार्वजनिक पूजा' का रूप प्रकट कर रहे हैं। ब्रह्म को व्यापक कहने से व्यक्ति को क्षुद्र बन जाना पड़ता है यह अतिनूतन व्यक्तिवाद सूर को मालूम नहीं था, नहीं तो वे ऐसा कुकृत्य करते ही क्यों! ऐसे ही जो अन्यान्य अपराध सूर से हुए हों वह अनजानते की चूक समझकर हमारे नवीन युग के नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभावाले उदार आलोचकों के द्वारा क्षमा किए जाने चाहिएँ।

सीधी बात तो यह है कि सूर कृष्ण के उपासक थे और उन्हें सब कुछ मानते थे। वे उनके लोक-चरित के रमणीय अंशों का गायन करने बैठे थे। व्रजभूमि के गोचारक, गोपी-वल्लभ कृष्ण ही सूर के उपास्य हैं। संयोग में भी, वियोग में भी, वे उन्हीं की एकमात्र कथा कहते हैं। जो कोई अपने आराध्य की व्यापक भावना करेगा वह सभी परिस्थितियों में उनकी झलक देखकर मुग्ध होगा। काव्य की दृष्टि से भी सूर को नवीनता की खोज करनी थी। उन्होंने उद्धव के प्रसङ्ग को उठाया और कथनोपकथन की प्रभावशालिनी शैली में अपने वे गीत गा चले जो पद पद पर कृष्ण के प्रति अनन्य प्रीति की व्यंजना करते और विरह-काव्य की सरस धारा प्रवाहित करते हैं।

उद्धव-गोपी-संवाद में, न्याय के अनुसार, पूर्व पक्ष उद्धव का है और उत्तर पक्ष गोपियों का। पहले उद्धव ने ही कृष्ण को छोड़कर निर्गुण को ग्रहण करने की बात चलाई है। वैसी अवस्था में गोपियाँ

जो उत्तर देती हैं उसे उद्धव के निर्गुण पक्ष के समकक्ष सगुण पक्ष का प्रत्यक्षीकरण मात्र समझना चाहिए। उसका यह आशय कहीं नहीं है कि गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म को नीचा दिखा रही हैं अथवा उसकी आस्था ही नहीं मानतीं। यदि ध्यान देकर देखा जाय तो गोपियों के उत्तर में केवल कृष्ण के प्रति उत्कट अनुराग की ही सर्वत्र व्यंजना है; निर्गुण के खंडन का उपक्रम कहीं नहीं। निर्गुण के सम्बन्ध में अधिकांश में गोपियों की ऐसी उक्तियाँ आई हैं—

> "कहा करों निरगुन लैकै हौं जीवहु कान्ह हमारे।"
> "तहाँ यह उपदेस दीजै जहाँ निरगुन-ज्ञान।"
> "ये (निरगुन) बतियाँ सुनि रूखी।"

इनमें कहीं भी निर्गुण का तिरस्कार नहीं है, उसके निराकरण का तो प्रश्न ही नहीं। केवल उसके शुष्क ध्यान, उसकी कष्टसाध्य साधना आदि का ही पद पद में उल्लेख है। इस तथ्य को स्पष्ट कर देने की विशेष रूप से आवश्यकता थी, क्योंकि इन दिनों ऐसे महानुभाव बहुतायत से पाए जाने लगे हैं जो मनमाने तौर पर इन भक्त कवियों को व्यर्थ मतवाद के क्षेत्र में घसीटते हैं जिससे न केवल उन कवियों के सम्यक् अध्ययन में बाधा पड़ती है, उन्हें हिन्दू-शास्त्रों के ज्ञान से रहित और संकीर्णबुद्धि मानने को भी बाध्य होना पड़ता है, जो दोनों ही असत्य और अन्याय्य हैं।

ब्रज की सुललित लीलाओं के उपरान्त सूर ने यह क्लेशकर विरह की बृहत्कथा कही है जो हिन्दी साहित्य और उसके इतिहास के विचार से बहुत अधिक महत्त्व रखती है। अब, जब साहित्य का अध्ययन व्यापक रूप से आरम्भ हो गया है, अनेक ऐसे प्रश्न उठने लगे हैं और उठेंगे जिनका उत्तर देने के लिये नवीन और स्वतंत्र बुद्धि की आवश्यकता पड़ेगी। कवियों का अध्ययन स्वतः ही अधिक गंभीर भाव से करना होगा। अब तक तो भक्त कवियों और शृङ्गारी कवियों को अलग अलग कालों में डाल-

कर एक दूसरे संपर्क-विहीन रखने की व्यवस्था थी परंतु अब ये प्रश्न भी निस्संकोच पूछे जाने लगे हैं कि सूर आदि भक्त थे इससे क्या मतलब? क्या वे शृंगारी नहीं थे? और जिन्हें आप शृंगारी कवि कहते हैं उन्होंने भी तो राधा-कृष्ण का ही शृंगार वर्णन किया है। फिर इनमें-उनमें अंतर क्या है और क्यों न ये एक ही श्रेणी में रखे जाएँ? सूरसागर की हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में नायिका-भेद के शीर्षक रखकर पद लिखे मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास ही हिंदी में नायिका-भेद के प्रथम कवि हैं अथवा प्राथमिक कवियों में तो अवश्य ही हैं! इस विषय में अभी अनुसंधान की आवश्यकता है परंतु जो तथ्य प्रकट हो रहे हैं और जिस स्वच्छंद पथ पर हिंदी का काव्य-विवेचन अब चल पड़ा है उसे देखते हुए यह दृढ़ अनुमान है कि केवल भक्त संज्ञा देकर ही सूर आदि की कोटि अन्य कवियों की कोटि से अलग नहीं की जा सकेगी। भक्ति तो व्यक्ति की एक विशेष प्रकार की धारणा या मनोवृत्ति को ही कहते हैं। सूरदास भक्त थे या संन्यासी, यह तो इतिहास के विद्यार्थी के जानने योग्य विषय है। बिहारी भक्त नहीं थे या मतिराम भक्त नहीं थे, यह हममें से कोई नहीं कह सकता। राज-दरबार में रहने के कारण ही कोई शृंगारी और अभक्त मान लिया जाय, यह इस युग में कहने-सुनने लायक बात नहीं है।

यदि नायिका-भेद लिखकर सूर परमभक्त और महात्मा कहला सकते हैं तो वही काम करनेवाले दूसरे भी क्यों नहीं कहला सकते? अपने अपने काव्य-ग्रंथों का आरंभ करते हुए सूर आदि की भाँति देव आदि ने भी मंगलाचरण किया है और राधा-कृष्ण को ही अपनी कवि-प्रतिभा उत्सर्ग करने की बात लिखी है। भक्तों की भाँति इन कवियों ने भी सहस्रों पद्यों में गोपी-कृष्ण की ही लीला का वर्णन किया है—शृंगार की लीला ही क्यों न हो! आजकल जब नवीन शैलियों से काव्य की समीक्षा की जाती है तब बहुत से ऐसे समीक्षक भी सामने आएँगे जो

कथित शृंगारी कवियों के छंदों को ईश्वर-पक्ष में भी चरितार्थ कर दें। लाक्षणिक अर्थों से संप्रति सबको प्रीति है क्योंकि यह बुद्धि के विकास का युग है। क्या आश्चर्य यदि नायिका-भेद का भी कोई आध्यात्मिक आशय हो, षट्ऋतु-वर्णन का भी, यहाँ तक कि नख-शिख के विन्यास में भी कोई अनोखा अर्थ आ जाय?

बुद्धि के इस विकट विकास के सामने कविता का वास्तविक तथ्य निरूपण करने का उपाय साहित्यिक मनोविज्ञान के अतिरिक्त दूसरा दिखाई नहीं देता। सूर आदि भक्त महाकवियों की स्वच्छ भावना (भक्ति) के उद्रेक में और परवर्ती ह्रास (decadent) काल के कवियों की अनुकरण-प्रिय, प्रणाली-बद्ध कविता में मनोविज्ञान के प्रत्येक विद्यार्थी को स्पष्ट अंतर दिखाई देगा। नायिका-भेद हो या ऋतुवर्णन—कवि की मनःक्रिया कहीं छिपी नहीं रहती। सूर व्यापक भावना के वास्तविक भक्त थे; उन्होंने कृष्ण की संयोग-लीलाओं में रस लिया था तो वियोग-वार्ता में उससे भी अधिक रस-वर्षण किया है। कोई भी उत्तरकालीन शृंगारी कवि विरह-काव्य कहने में इतना अधिक तल्लीन नहीं हुआ जितना सूर हुए हैं। जिस कवि ने कृष्ण को हाथ छुड़ाकर जाते देख यह कहने का साहस किया था कि हाथ छुड़ाकर भागना सहज है पर हृदय से निकल जाना बहुत कठिन है—मर्द समझूँगा यदि हृदय से निकल जाओगे—उसकी कविता में आप इस किंवदंती को प्रत्यक्ष करके देख सकते हैं। इन किंवदंतियों का अर्थ साहित्यिक मनोविज्ञान के पाठकों को संग्रह कर लेना चाहिए। सूर के कृष्ण एक बार जब हाथ ले छूटे—आँखों की ओट हुए, वियुक्त होकर चले गए—तब से अंत तक सूर ने उन्हें हृदय से नहीं ही जाने दिया। संयोग में कृष्ण की मूर्ति आँखों में थी, वियोग में वह अंतस्तल के निगूढ़ प्रदेश में छिपाकर रखी गई है। सूरसागर में अंत तक वियोग की क्लेश-कथा है जिसको सूर जैसे भावनावान् भक्त ही सहन कर सकते थे, शृंगारी कवियों के लिये यह असाध्य-साधन था।

चाहे अभिधा से अर्थ लगाया जाय चाहे लक्षणा से, दिल की बात छिपी नहीं रहती। युग के मौलिक विचारकों और वास्तविक भावना-वाले कवियों की वाणी अपना स्वर अलग ही प्रकट करती है। पीछे से उनके अनुकरण में अधिक अलंकृत, अधिक सजीले पद कहे जा सकते हैं; पर जो नवीन उपमाएँ, जो नवीन मुद्राएँ, जो नवीन भाव-मूर्तियाँ—जो समस्त नवीनता, तल्लीनता और विशद भावना एक कवि में होगी वह दूसरे में नहीं ही होगी। सूर के पदों की अन्तिम पंक्तियाँ अधिकांश में आत्म-निवेदन के रूप में अपनी उत्कट भावना का परिचय देती हैं। केवल काव्य की दृष्टि से इनकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। परन्तु ये तो जैसे कवि की लेखनी से स्वतः ही उल्लिखित हो गई हैं। ये न भी होतीं तो भी पूरे काव्य का अध्ययन करके प्रत्येक समीक्षक इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता कि इस कवि ने संपूर्ण वासना-जन्य शृङ्गार को भस्मांत करके लेखनी उठाई थी और इसके काव्य का एक-मात्र आशय अनन्य भाव से भगवान् की अलौकिक लीलाओं का रूप-चित्रण है। इस कवि ने कृष्ण की जैसी भावना की थी वह स्वयं उसकी ही थी। परंपरा से प्राप्त सांप्रदायिक भक्ति तो शुष्क बुद्धि के चक्कर लगाने का विषय बन जाती है। पर जो भक्ति सूर की थी वह मन को, बुद्धि को, विवेक को, ज्ञान को—सबको रुची और सबके लिये तृप्तिकर हुई। यों तो सूर की कविता मात्र में उसकी स्वच्छ, सजीव भावना विकसित हुई; किन्तु इस विरह-काव्य में तो वह अतिशय मनोरम बनकर हम पर अधिकार करती है और हम विनत होकर उसकी महिमा स्वीकार करते हैं।

परतीति = विश्वास। बिहङ्गम = पक्षी; खंजन से आँखों की उपमा दी जाती है। सित मेचक = दुरंगे; छली। सो करनी कछु तौ न भई = लालच का, उत्कंठा का कोई परिचय न मिला। 'समय गए नित सूल नई।' मि०—

का बरषा जब कृषी सुखाने, समय चूकि पुनि का पछिताने।—तुलसीदास

जब पलकनि...दई = जब पलकों ने साथ न दिया; बंद होना छोड़ दिया।

पद ९५—कंज खंज मृग मीन = कमल, खंजन, मृग और मीन से आँखों की उपमा दी जाती है। मृग होतीं...ढिगहीं = मृग होतीं तो सदैव कृष्ण के चंद्रमुख के साथ रहतीं। चंद्रमा का एक नाम मृगांक है इसी से मृग और चंद्र का साथ रहना कल्पित किया गया है। ये झरना...उपमा सकल बहीं = आँसुओं के झरने में आँखों की सब उपमाएँ बह गईं, अब उपमा के योग्य कुछ रहा नहीं। झरने में उपमाओं का बह जाना चमत्कारपूर्ण उक्ति है।

पद ९६—तऊ मोहिं कहि आवै = तथापि मैं निवेदन करती हूँ। लड़ैतेहिं = दुलारे को; प्यारे को। अलक लड़ैतो = परम प्रिय। मेरौ...सँकोच = कृष्ण के इस संकोची स्वभाव का कोई परिचय ब्रज में रहते नहीं मिला; निस्संकोच उत्पात ही वे सदैव करते रहे। यह माता की ममता है कि जो उन्हें संकोची जानती है।

पद ९७—सुनैं......सूल सहै = माता यशोदा सूने घर में (कृष्ण की अनुपस्थिति में) उनके गुणों का स्मरण करती और कष्ट पाती है। नित......उरहन कोउ न कहै = जो ग्वालिनियाँ नित्य उठकर सबेरे से ही घर घेरे रहती थीं वे अब उलाहना नहीं लातीं।

पद ९८—इस पद में कृष्ण यशोदा को संदेश भेज रहे हैं। किन्तु इसके आगे के पदों से स्पष्ट है कि अब तक उनका कोई संदेश नहीं मिला। यद्यपि सूरसागर कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं है, तथापि घटना-अनुक्रम के विचार से इस पद को पद १२२ के उपरांत आना चाहिए।

कोउ न कह्यौ कन्हैया = किसी ने प्यार से मेरा नाम नहीं पुकारा। धैया = थन से छूटती हुई दूध की धार जो कृष्ण पीते थे। अबेर सबेरौ = वक्त-बेवक्त; मौका पाकर। सोधौ = शोध; खबर।

पद ९९—इस पद में उद्धव के प्रति गोपियों का कटाक्ष है। वास्तव में उद्धव का आगमन पद १२३ के उपरांत होता है। इस पद का

उचित स्थान यहाँ है। घत्तनहार = घर्तनेवाले; परिचित होनेवाले। कपट चटसार = कपट की पाठशाला में। अंधधुंध सरकार = अंधाधुंध शासन; अंधेर नगरी।

पद १००-विषम ज्वाल की पुंजैं =भयानक ज्वालापूर्ण। वृथा बहती जमुना...अलि गुंजैं =इन शीतल, मधुर, सुगंधिपूर्ण और सुंदर वस्तुओंने अपना प्रभाव खो दिया है। घनसार=कपूर। दधिसुत = (उदधि-सुत ?) चंद्रमा। भुंजैं =भूँज रही हैं; जला रही हैं। मदन मारि.....लुंजैं = कामदेव ने मारकर हमें लुंजी कर दिया। प्रभु=स्वामी; पति। यहाँ इस शब्द के अर्थ में चमत्कार है। अपनी स्त्री पर अत्याचार हुआ जान पति का क्रुद्ध होकर प्रतिकार करना स्वाभाविक है। कामदेव ने गोपियोंको लुंज कर दिया है, यह समाचार सुनकर उनके स्वामी कृष्णको आना चाहिए—यही आशा है।

पद १०१—यह पद भी उद्धव को संबोधित कर कहा गया है। किंतु उनका आगमन पद १२३ में होता है। अतः यह यहाँ अप्रासंगिक है। भई बिरह-जुर-जारी = विरह के ज्वर में जल गई है। तरँग तलफ तन भारी=शरीर में (तरंगों रूपी) भारी तलफ उठ रही है। तट बारू उपचार-चूर = तट की बालू उस पीड़िता का उपचार-चूर्ण है। प्रसेद-पनारी = पसीने की पनारी। बिगलित कच कुस-कास= कुश और काँस उसके रूखे-सूखे बाल हैं। चकई बादि बकत = चकई बोलती है मानो उन्माद की दशा में यमुना बक रही हैं। फेन मनौ अनुहारी = फेन मानो (उसी) उन्माद की दशा का फेन हो।

पद १०२—रथ चढ़ाइ इ० = मन को रथ में चढ़ाकर (आदर के साथ !) अपने साथ ले गए हैं। गोपियाँ वियोग के दुःख में भी अपने उस आदर को नहीं भूली हैं जो कृष्ण द्वारा उन्हें मिला था। नातरु.....तुम ल्याए = नहीं तो तुम्हारे इस योग को, जिसे इतनी रुचि के साथ तुम लाए हो, हम भला छोड़ सकती थीं। झखतिं स्याम की करनी = हम तो स्याम की करनी को झींख रही हैं। (अपने प्रिय जन की करनी पर ही झींखा जाता है। प्रियता की व्यंजना।)

पद १०३—छीजे = क्षीण हो रहे हैं। बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै = डूबते हुए ब्रज को आप क्यों नहीं उबार लेते। (एक बार पहले उबार भी तो चुके हैं)। बारकहूँ=एक बार भी।

पद १०४—मधुबन तुम कत रहत हरे=मधुबन! तुम हरे क्यों बने हुए हो। वह चितवनि......पुहुप धरे=उस चितवन को (जिसने मुनियों का भी ध्यान डिगा दिया) तू क्यों नहीं धारण करता, बार-बार पुष्पों को क्यों धारण करता है? वह चितवनि न 'धर' कर पुष्प 'धर' ने में कैसी मूर्खता है? (पुष्पों से दृष्टि की उपमा दी भी जाती है।)

पद १०५—रहै जिय साधौ=हृदय की साध रह जाती। पहुनेहु... आधौ=तुम हमारे पास न आकर यदि नंद बाबा के यहाँ अतिथि बन कर (अल्प काल के लिये) भी आ जाते तो आधे पल ही सही, हम तुम्हें देख तो लेतीं। होत दरस कौ बाधौ=अब दर्शन की भी बाधा हो गई है; दीदार भी मयस्सर नहीं। लाधौ=लब्ध था; प्राप्त था।

पद १०६—बिनु ही रितु=असमय में ही। दोउ तारे = आँखों के दोनों तारे। सुख......द्रुम डारे = सुखों के अनेक वृक्षों को गिरा दिया। बदन सदन मैं बसे बसे बचन खग = मुख से बात नहीं कहती; मौन रहती हैं। सिव की परन-कुटी = उरोजों से उपमा दी गई है।

पद १०७—रस-लंपट = रस के लालची। सोभा-सिंधु...हृदय-साँकरे-ऐन = हृदय के संकीर्ण आलय में शोभा का सिंधु कहाँ तक समा सकता है? बमि = वमन करके।

पद १०८—परेखौ = प्रश्न।

पद १०९—बाहँ थकी बायसहिँ उड़ावत = कौए के उड़ाने से कोई प्रियजन आता है या उसका संदेश मिलता है, ऐसी किंवदंती है। दुइ खंजन......बारि=दोनों आँखें अश्रुजल में डूब रही हैं। सकैँ न पंख पसारि=पंख पसारकर उड़ नहीं सकतीं; अपने को डूबते से बचा नहीं सकतीं, जब तक आप दर्शन नहीं देते।

पद ११०—मूल पताल गई = उस विरह-लता की जड़ खूब गहरी (पाताल तक) पहुँच गई है। निरवारौं = निवारण करूँ; दूर करूँ। सब तन पसरि छई = पसरकर चारों ओर छा गई है। झई = झड़ी; लगातार रिमझिम रिमझिम वर्षा।

पद १११—बुधि करि = विचार कर; समझकर। कहे चकोर… उड़ि जात = कवियों ने इन्हें चकोर की उपमा दी है परंतु ये तो कृष्ण के मुखचंद्र के दर्शन के बिना भी जी रहे हैं। इन्हें भ्रमर कहा गया है पर ये उड़ नहीं जाते। ठाले = वेकार। पलात = पलायन करते; भाग जाते। भाजि……कोऊ खात = ये मृग-नयन सघन श्याम (कृष्ण-रूपी) वन में क्यों नहीं भाग जाते जहाँ कोई आक्रमण नहीं कर सकता। सूरदास……छाँड़त = अकेली मीन की उपमा ठीक उतरी, क्योंकि ये आँखें सदा सजल रहती हैं।

पद ११२—काके बोल सहैं = किसकी (कड़ी) बातें सुनूँ। इन लोभी……कहा कहैं = लोभी नयनों के कारण परवश हो गई हैं (सबकी बातें सुननी पड़ती हैं), क्योंकि इन्ही के कारण लज्जा खोकर, शरीर की सुध-बुध भी भूल जाना पड़ा है।

पद ११३—सुपनेहूँ…नींद जगाइ भगी = नींद हमें जगाकर स्वयं भाग गई (अब नहीं आती)। उसे हमारा स्वप्न-सुख भी सहन नहीं हुआ। ढोल बजाइ ठगी = खुले आम ठग लिया; सरे बाजार ठग लिया। निसा जगी = रात भर जगी। सोई सूर सगी = वही अपनी सच्ची हितैषिणी है जो उस स्वप्न की मूर्ति और तज्जन्य सुख को मुझे दे सके।

पद ११४—निमिष = पल भर। ज्यौं चकई…आनि = जैसे चकई (रात्रि के समय, जलाशय के तीर पर) जल में अपना प्रतिबिंब देख कर, उसे पति समझ सुखी हो, इतने ही में वायु के बहाने विधाता जल को चंचल कर दे और उसका क्षणिक सुख भी छीन ले।

पद ११५—अलि-सुत = भ्रमर। जल-सुत = कमल। संपुट = कोष। सारँग = मृग।

पद ११६—पारधी = ब्याधा; शिकारी; बहेलिया।

पद ११७—जुन्हैया = ज्योत्स्ना; चाँदनी। डसि उलटी ह्वै जाति = जैसे नागिन डँसकर उलट जाती है तब सफेद दिखती है, वैसे ही रात्रि, डँसकर उलट जाती है तब चाँदनी छिटकती है। अर्थ यह है कि चाँदनी रात उनके लिये और भी भयानक होती है। लहरैं आति = साँप के काटने से लहर आती है।

पद ११८—घन घोरे = घोर भयप्रद बादल। मुरत न = मुड़ते नहीं हैं; वश में नहीं रहते। ऐरापति = ऐरावत जो इंद्र का हाथी है। (इंद्र ही जलदेव भी माने गए हैं) गरत गात जैसे ओरे = ओले की तरह शरीर गल रहा है।

पद ११९—सिखिनि = मयूरों ने। नव बादर बानैत……चुटकि दिखायौ = नए बादल योद्धा बनकर पवन के घोड़े पर चढ़े चटकदार देख पड़ रहे हैं। चमकत…बजायौ = बिजली चमकती है जैसे उन योद्धाओं के सेल चमकते हों, बादल गरजते हैं जैसे वे युद्ध-वाद्य बजा रहे हों। पहिलैं गुन सुमिरत = पहले के गुणों का स्मरण करके।

पद १२०—मोरउ = मयूर भी। बरजैं नहिँ मानत = मना करने से नहीं मानते। मोहन सीस धरे = कृष्ण ने शिरोभूषण बनाया है। रहत अरे = अड़े रहते हैं।

पद १२१—चातक के अनन्य प्रेम की चर्चा कवियों ने बहुत की है। गोसाईं तुलसीदास ने 'दोहावली' में चातक के प्रेम को आदर्श प्रेम-पद्धति का रूप प्रदान किया है। सूर की वियोगिनी गोपियाँ यहाँ चातक के प्रति अपनी सहानुभूति दिखा रही हैं। सोई पै जानै = वही तो जानता है। तज्यौ सिंधु करि खारौ = स्वाती के बूँद के लिये खारा मानकर समुद्र का भी त्याग कर दिया।

पद १२२—सीस संकरहिँ दीजै = शंकरजी को शीश काटकर दे दें। दावानल = वन की अग्नि। जठरानल = उदर की अग्नि। बड़वा-नल = समुद्र की अग्नि।

पद १२३—कृष्ण ने उद्धव से संदेश भेजकर यशोदा को धैर्य बँधाया है। पिता नंद को कुछ काम सहेजा है। गायों की याद की है। मथुरा के विभव-विलास की अपेक्षा ब्रजवासी लोगों से भेंटने में उन्हें अधिक सुख मिलेगा। यह पद भक्तों की सांत्वना का आधार है। याकौ बिलगु...धाइ = उसने अपने को धाय कहलाया था, इसका हमने बहुत बुरा माना।

पद १२४—काँती = तलवार। ताती = गरम। परसैं......छाती = कृष्ण के पत्र को गोपियाँ कैसे पढ़ें? हाथ से छूते ही उनकी (विरह-) तप्त अँगुलियों से वह जल जायगा और यदि बिना स्पर्श किए भी पढ़ें तो आँखों की अश्रुधारा से भींग जायगा। दोनों प्रकार से दुःख है। मदन-सर घाती कामदेव के घातक बाण।

पद १२५—लोटत...सम्हारे = भ्रमर पुष्पों के पराग-पंक में सना रहता है, अपनी सँभाल नहीं करता। सरक = शराब की खुमारी। उघारे = खोलने से। बिलमावत = फुसलाते हैं; बहलाते हैं। का पै लेहिं उधारे = अब किससे उधार लें।

पद १२६—सैंति = बटोरकर; इकट्ठा करके। 'तुम्हारे हित... खारे = तुम्हारे लिये हम अपना मीठा मुख खारा नहीं कर सकतीं। कृष्ण की मधुर स्मृति को छोड़कर अस्वादिष्ट निर्गुण को ग्रहण नहीं करतीं।

पद १२७—रूप-रस-राँची = जो रूप के रस में अनुरक्त हो चुकी हैं। अवधि......दूखी = जब तक उद्धव नहीं आए थे तब तक कृष्ण के आने की प्रतीक्षा में एकटक रास्ता जोहते हुए भी ये आँखें इतना नहीं खीजी थीं जितना अब इन योग के संदेशों से दुख उठी हैं। पतूखी = पत्ते का दोना। कृष्ण इसी में दूध पिया करते थे। सूर......सूखी = सूरदास कहते हैं कि इन (गोपिकाओं के हृदयों की) सूखी सरिताओं में अपने योग की नाव न चलाओ; इन दुःखिनियों को योग के संदेशों से न छेड़ो।

पद १२८—पानि-पल्लव-रेख...विधान = कृष्ण के आने के दिन गिनते हुए हाथों में लकीरें पड़ गई हैं। (रेखाएँ खींच खींचकर गणना करने की प्रणाली अब भी है।) अवतंस = शिरोभूषण; मुकुट। कोटिक भान = अगणित सूर्य। कोटि मनमथ...दान = करोड़ों काम-देव को कृष्ण की छवि पर न्यौछावर करके, वह छवि देखते हुए दान (मुँह-देखाई) देना चाहिये। सुंदर मुख की मुँह-देखाई लगती ही है। कोदंड = धनुष। अवलोकननि संधान = चितवन से (मानो) धनुष-संधान होता है। कंबु-ग्रीवा = शंख के आकार की ग्रीवा। कर-पद्म सुधा-निधान = कमल-कर जो अमृत से भरे हैं (सुंदर चित्रण)। भान = दीप्ति; चमक; प्रकाश।

पद १२९—ये जु मनोहर...चकोर = ये (दोनों) आँखें कृष्ण के मुखचंद्र के शरत्कालीन कुमुद और चोर हैं, जो दोनों ही उसे देख-कर प्रसन्न होते हैं। चातक मोर = दोनों आँखों के लिये दो उपमाएँ। दुति-मनि = सूर्यकांत मणि।

पद १३०—सिराति न कबहूँ = कभी शीतल नहीं होतीं। बाई = वायु। उधारी = खुली हुई। सुनि...तुम्हारी = जो आँखें यों ही इतने कष्ट झेल रही हैं, वे तुम्हारी ज्ञान-शलाका की पीड़ा कैसे सह सकेंगी? सलाकहिं = लोहे की सलाई। सूर सुअंजन......हमारी = (सलाई से तो आँखें फूट जायँगी) यदि इनकी पीर छुड़ाकर हमारा क्लेश दूर करना है तो इनमें कृष्ण के रूप-रस का अंजन लगा दो। (कृष्ण के रूप का दर्शन करा दो।)

पद १३१—नाहिं नै = नहीं ही। निपटैं = एकदम। सीखौ नाहिं गहत = शिक्षा नहीं ग्रहण करता। प्रकृति = स्वभाव; आदत। स्रवनहु नाहिं सहत = कानों को भी अच्छा नहीं लगता। सूरदास... कोऊ न लहत = बिना भगवान् को देखे किसी को सुख नहीं मिलता।

पद १३२—ता पाछैं = उसके बाद। केतिक बीच = कितना अंतर है। जल बूड़त...कहा गहत है = जो कष्ट में है वह 'निर्गुण'

का ध्यान करके क्या लाभ उठा सकता है ? सूरदास सो भजन बहाऊँ ...भावै = जिसमें हमारे कृष्ण की भावना न हो उस गीत को हम नहीं सुनेंगी।

पद १३३—निरगुन कौन देस को वासी = गोपिकाएँ अपने ही देश में, अपने ही समाज में, भगवान् को देखने की इच्छा रखती हैं। जिन भक्तों की यह भावना प्रबल होती है उनके लिये भगवान् रूप धारण करके लोक में आते हैं। कृष्ण का वही रूप है। को है जननि ...कौन नारि को दासी = केवल अपने बीच में ही नहीं, अपनी ही तरह के संबंधों का निर्वाह करनेवाले भगवान् गोपियों को चाहिएँ। यही नहीं, गोपियों को तो ऐसा ईश्वर चाहिए जो कृष्ण की तरह 'स्त्रियों का गुलाम' भी हो। केहि रस मैं अभिलाषा = कैसी वस्तुएँ उसे अच्छी लगती हैं; उसका कैसा स्वभाव है ? गाँसी = लगनेवाली बात; व्यंग्य। पावैगो...गाँसी = व्यंग्य न करके, हम लोगों से सीधी सीधी बातें कीजिए।

पद १३४—ठगौरी = जादू। यहाँ इसका अर्थ लूटकर लाई हुई वस्तु भी हो सकता है (ठगाही)। जोग ठगौरी इ० = ब्रज में यह जादू नहीं चलेगा। ऐसैं ही = बिना बिके ही। जापै = जिसके लिये; जिसके पास। ताकैं उर न समैहै = वे उसे अपने हृदय में नहीं रख सकेंगी। को निरगुन निरबैहै = निर्गुण का कौन निर्वाह करेगा !

पद १३५—जाकी बात = जिस 'निर्गुण' की बात। प्रान-सजीवनि मूरि = प्राणों की संजीवनी बूटी; कृष्ण। सूर...नहिं बोलत = यह सुनकर आप नमितशिर क्यों हो गए ? उत्तर क्यों नहीं देते ? बोलते क्यों नहीं ?

पद १३६—अवराधै ईस = ईश्वर (निर्गुण) की उपासना कौन करे ? सिथिल भईं सबही = हम सब शिथिल हो गई हैं। स्वासा... सरीस = सिर (कृष्ण) के सरीर (हम गोपियों) से अलग हो जाने पर भी केवल उनकी आशा में हम अभी करोड़ों वर्ष जीने की हिम्मत रखती हैं। पुरवौ मन = मन की इच्छा पूरी करो।

पद १३७—नंदनंदन...उर और=कृष्ण के रहते हुए दूसरे को हृदय में कैसे लाया जा सकता है? यहाँ कृष्ण के प्रति गोपिकाओं का दांपत्य भाव भली भाँति स्पष्ट है। गोपियों का पातिव्रत उत्तम कोटि का है—मि० उत्तम के अस बस मन माहीं, सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।-तुलसीदास। मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।—मीरा। चलत चितवत... राति = प्रत्येक क्षण; सोते जागते सब समय। कहत कथा...दिखाइ= सांसारिक हित की दृष्टि से तुम (उद्धव) अनेक कथाएँ हमसे कहते हो।

पद १३८—पकरे......जोर = मन का हरण करनेवाले चोर (कृष्ण) को हमने प्रीति की शक्ति से हृदय में बंद (कैद) कर रखा था। गए छँड़ाइ तोरि सब बंधन = सब बंधनों को तोड़कर, छुड़ाकर चले गए। बंधन = सहज स्नेह के कारण कृष्ण गोपिकाओं के साथ जिन अनेक बंधनों में बँधे हुए थे। गोपी और कृष्ण की एक एक लीला एक एक बंधन थी जिन्हें उन्होंने तोड़ डाला। हँसनि अकोर= हँसी की रिशवत दे गए; हँस हँसकर बातें की और चल दिए; हँसी में बहलाकर चले गए। चौंकि परी......नवल किसोर = जब वे यह रिशवत देकर चले गए तब तो मालूम नहीं पड़ा, किंतु जब हम सोते से चौंककर जगीं, सचेत हुईं, तब मालूम हुआ कि वे तो सर्वस्व लेकर चले गए हैं। कृष्ण के जाते समय जो बात विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं समझी थी वही अब सर्वस्व-अपहरण बोध होती है। कृष्ण का मूल्य उनके न रहने पर प्रकट हुआ है।

पद १३९—बिधि कुलाल कीने......पकाए = ब्रह्मा-रूपी कुंभकार ने जो कच्चे (कोमल) घड़े बनाए थे उन्हें तुमने आकर पकाया (कठोर बना दिया)। हम सब व्रजवासी ईश्वर द्वारा कोमल स्वभाव के बनाए गए थे; तुमने हमें योग की आँच में तपा डाला। रंग दियौ इ० = कृष्ण ने उन कच्चे (कोमल) घड़ों में विविध प्रकार के रंग चढ़ाए थे; उन्हें चित्रित किया था (उनके साथ अनेक-लीलाएँ रची थीं)। गलन न पाए इ० = जब कृष्ण चले गए तब भी वे चित्रित घट आँखों के

जल से भीगकर गल नहीं पाए क्योंकि कृष्ण अवधि की (एक निश्चित समय की) छत छा गए थे; शीघ्र आने का वचन देकर उन्होंने हमें अब तक हताश नहीं किया था। ब्रज करि अवाँ...फिराए = ब्रज को अवाँ (बर्तन पकाने का गड्ढा) बनाकर योग के ईंधन से सुरति (ध्यान) की आग लगाई। फिर विरह के प्रज्वलित श्वासोच्छ्वासों के साथ उन (घटों) को दर्शन की आशा के चक्र (चाक) में फिराया। भए सँपूरन......छुवन न काहू पाए = अब ये पक्के घड़े प्रेम-जल से भरे शुचिता के साथ (बिना किसी अन्य द्वारा स्पर्श किए गए) रखे हुए हैं। राज-काज......लाए = ये पवित्र घट राज-काज के उपयुक्त हैं। क्या राज-काज में गए हुए नंदनंदन इन्हें अपने करों से स्पर्श (करके कृतार्थ करेंगे ?

यह रूपक बड़ा ही सार्थक और विशद है। गोपिकाओं को उद्धव से निवेदन है कि उनके कोमल हृदयों को योग की अग्नि से तप्त करने के बाद अब भी ऐसा संयोग ला दो कि कृष्ण हमारा स्पर्श कर लें; कृष्ण से हमसे भेंट हो जाय।

पद १४०—बाँधौ गाँठि = सहेजकर रख लो। मरम न जानैं और = जिसका मर्म कोई नहीं जानता; जो दूसरे के लिये व्यर्थ है (व्यंग्य) केवल तुम्हारे लिये अनुपम है (व्यंग्य)। जो हितु...... दीन्यौ = कृष्ण ने प्रेमवश हमें जो वस्तु भेजी है वह हम तुम्हें दिए देती हैं। विप्र नारियर......बंदन कीन्यौ = ब्राह्मण का नारियल (उपहार) हाथ जोड़कर (वंदना करके) लौटा दिया जाता है। ब्राह्मण का उपहार ग्रहण करने की प्रथा नहीं है।

पद १४१—हम लायक = मेरे योग्य शिक्षा दीजिए। मि०—

मोहिं अनुहरत सिखावन दीजै।—रामचरित मानस।

इहाँ इतननि......को है = यहाँ हम इतनी बैठी हैं, इनमें तुम्हारी शिक्षा के योग्य कौन है ? कहा सुनत......कोई कैहै = सब कोई यही कहेगा कि संसार में अब यह कैसी (उद्धव की) विपरीत बात सुन

पड़ती है । देखी धौं = समझ लो; जान जाओ । बिभूति = भस्म
छाजै = फबती है; शोभती है ।

पद १४२—राधा तन......विपरीत भई = राधा के शरीर की
बुरी दशा हो गई है । गई......भई = चंद्रमा की (सी) शोभा जा
रही, केवल कालिमा ही शेष रही है । लोचनहू......निचोरि लई =
आँखों में जो शरदकमल की सी संपूर्ण शोभा का सार था वह भी
सूख गया; आँखों में आब नहीं रही । आँच......दई = शरीर की
कांति धीरे ही नष्ट हो गई है जैसे आँच लगने से खोटा सोना
घ्योनी = खोटा; बुरा; 'चयन' शब्द महाराष्ट्र प्रदेश में इसी अर्थ में क
भी प्रयोग में लाया जाता है । कदली दल......ढलटि गई = जं
पीठ कदली-दल की भाँति भरी-पूरी और मुलायम थी वह अब ढल
हुए केले के पत्ते की तरह ठठरी रूप में रह गई है । केले के पत्ते के
दो रूपों का बड़ा मार्मिक चित्र है । दई दई = दे देकर । इसका अर्थ,
दैव ने ऐसी विपत्ति दी है, भी हो सकता है ।

पद १४३—मृग त्वच = मृग-चर्म । अधारि = अधारी; काठ के
डंडे में लगा हुआ पीढ़ा जो साधुओं के काम का होता है । इते बाँध
को बाँधे = इतने बंधन क्यों पड़ने दे ? उनके प्रत्यक्ष दर्शन में रुकावट
डालने से क्या लाभ ? जिन सरवस चाख्यौ इ० = जिन्होंने संपूर्ण
आस्वाद पाया है वे आधे से कैसे संतुष्ट हो सकते हैं ! यहाँ कृष्ण
को संपूर्ण ब्रह्म का पद दिया गया है, सगुण और निर्गुण जिसके दो
(आधे आधे) भेद हैं ।

पद १४४—कहा लै कीजे बहुत बड़ाई = बहुत बड़ाई भी किस
काम की । स्रुति-बचन अगोचर = वेद भी जिसका निर्वचन नहीं कर
सकते । मि०—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।—गीता ।
मनसा = मन । ता निरगुन......माई = जिससे प्रीति की जा सके, जिसे
हृदय की वृत्ति अर्पण करना संभव हो, उसी से उनका निर्वाह हो सकता
है । जल बिनु......चतुराई = बिना जल के तरंग किसमें उठेगी,

बिना प्रीति के चित्र कैसे बनेगा, बिना चित्त के (भगवान्) कृष्ण (हमसे) चतुराई कैसे करेंगे ? निर्गुण भी कृष्ण की ही भाँति चतुर हो तो गोपियों का अनुराग प्राप्त कर सकता है।

पद १४५—कहि निबरौ किन सोऊ = उसे भी क्यों नहीं कहकर छुट्टी पाते। बड़े सयाने दोऊ = बड़े होशियार हो ! शऊर नहीं है। छुटि गयौ...वह जोऊ = हृदय में जो मान की भावना थी वह मिट गई। सूरदास...सोऊ = हमारे स्वामी (कृष्ण) ही गोकुलपति हैं, इस विश्वास से चित्त की चिंता छूट गई।

पद १४६—गुननि भरे हौ दोऊ = दोनों बड़े गुणी हो; चंचल हो। परम कृपिन...सोऊ = इतने कृपण हो कि हमारा जो थोड़े धन का जीवन है, वह भी नहीं उबरता। हम स्त्रियों का स्वल्पसाध्य निर्वाह भी नहीं कर सकते।

पद १४७—अंगार अवात = अंगार से ही पेट भरता है।

पद १४८—अगाह गहि = जो ग्रहण नहीं किया जा सकता उसे भी ग्रहण करके। जोग-पंथ लौं ल्यायौ = योग के मार्ग पर लौ लगाकर चलीं। बोहित के खग ज्यौं = जहाज का पक्षी जो समुद्र में निरवलंब होकर जहाज की ही शरण आता है। सुर-सरिता-जल...अगिनि सचु पायौ = यदि गंगाजल से भी होम किया जाय तो अग्नि को क्या सुख मिलेगा ? जिहिँ जिय जात जिआयौ = जिससे प्राणों की रक्षा हो सके।

पद १४९—इस पद में अंतिम बार गोपियाँ कृष्ण के वियोग में दुःखिनी गायों की दशा निवेदित करती हैं। समझना चाहिए कि गोपियाँ यदि किसी प्रकार (यद्यपि यह सर्वथा असंभव है) कृष्ण से ध्यान खींच भी सकें तो ये मौन, निराश्रित गायें किस 'निर्गुण' का ध्यान करके अपने अंतर की अग्नि शमित करेंगी ! जिस व्रजदेश की गौएँ कृष्ण के बिना धाड़ मारकर इस प्रकार विलाप कर रहीं हैं उसका निस्तार सगुण, निर्गुण जो कोई कर सके, व्रजपति (कृष्ण) के ही वेष में कर सकता है। हूँकतिँ लीने नाऊँ = (कृष्ण का) नाम लेने पर हूँकती हैं; रँभाती हैं।

पद १५०—उद्धव की अंतिम स्वीकारोक्तियाँ (confessions)। प्रथम पद में सूर ने जो प्रतिज्ञा की थी—'सूर सगुन-पद गावै' उसी की पूर्ति उद्धव की इस उक्ति में है—'आयौ हो निरगुन उपदेसन भयौ सगुन कौ चेरौ।' जो मैं...परस्यौ नेरौ = मैंने गीता-ज्ञान तो सुनाया किंतु निकट से तुम्हारी (पवित्र) आत्माओं का स्पर्श न कर पाया। अति अज्ञान... हरि केरौ = भगवान् कृष्ण का दूत बना था किंतु अज्ञानवश कुछ भी (सत्य) न कह सका। घनेरौ = घनिष्ट। बोरि जोग कौ बेरौ = योग का जहाज (बेड़ा) डुबाकर; योग से संबंध-विच्छेद कर।

पद १५१—कृष्ण का अंतिम करुण उच्छ्वास। बाल्यकाल की सब मधुर स्मृतियाँ जाग उठी हैं। यमुना की सुंदर तट-भूमि, वहाँ कुंजों की छाया, गायों और बछड़ों की वह दोहन-भूमि, ग्वाल-बालों की विहारस्थली जब याद आती है तब शरीर की सुध-बुध खोकर मन वहीं तन्मय हो जाता है। यह मथुरा की कंचननगरी श्री-विहीन लगती है। माता यशोदा और पिता नंद ने मेरे उन बाल्यकाल के अगणित ऊधमों का निर्वाह किया था। मेरी आत्मा की सहस्रमुखी वाणी उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने में असमर्थ है। हा वे दिन!

सूर ने कृष्ण का जो अनुराग व्रजमंडल के प्रति दिखाया है, वही भक्तों की भावना को केंद्रित कर वृंदावन को साधु-हृदयों का एक मात्र अवलंब, उनका परम तीर्थ, बनाने में समर्थ हुआ है। इसी भावना के उद्वेग में रसिकवर रसखान ने कहा होगा—

'मानुस हौं तो उन्हैं रसखानि बसौं बिच गोकुल गाँव के ग्वारन,

... ...

जो खग हौं तो बसेरो करौं उन कालिंदी-कूल-कदंब की डारन।'

विदित नहीं, कृष्ण की यह निगूढ़ करुणामयी वाणी माता यशोदा, पिता नंद, सखी गोपियों और सहचर ग्वाल-बालों तक पहुँची थी या वे इससे सदैव वंचित ही रहे!

पदों की अनुक्रमणिका

पद			पद-संख्या पृष्ठ

पद — पद-संख्या पृष्ठ